सम्यक् आचार : सम्यक् विचार

अर्थात्

[तारणतरण श्रावकाचार, पंडित पूजा, मालारोहण और कमलबत्तीसी ग्रंथों का अनुवाद]

मूल प्रणेता

१६ वीं शताब्दी के महान् संत

श्री गुरु तारणतरण स्वामी जी महाराज

प्रस्तावना-लेखक

डॉ० हीरालाल जी जैन

डायरेक्टर—वैशाली प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर (बिहार)

सम्पादक

समाजरत्न, धर्मदिवाकर ब्रह्मचारी पूज्य

श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज

अनुवादक

भक्तामर, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, तारणत्रिवेणी आदि के पद्यानुवादक

"कविभूषण" श्री अमृतलाल जी "चंचल"

सम्पादकीय

धर्म के क्षेत्र में मानव मात्र को समान अधिकार है, जाति कुल आदि धर्मपालन में बाधक नहीं। धर्म की शीतल छाया सब को सुलभ हो। धर्म आत्मा का गुण है। सदाचरण और सद्ज्ञान उसके प्रमुख अंग हैं। उनका विकास मानव में किस प्रकार हो, कैसे उसका कल्याण हो, यही लक्ष सामने रखकर श्रीमद् तारण स्वामी जी ने सम्यक् आचार को प्रकट करने वाले ग्रंथ श्री श्रावकाचार और सम्यक् विचार को प्रकट करने वाले ग्रंथ श्री मालारोहण, पंडित पूजा, और कमल बत्तीसी की रचना की और इन्हीं सबका सामूहिक उपनाम 'सम्यक् आचार : सम्यक् विचार' है।

सम्यक् आचार और सम्यक् विचार परस्पर अवलंबित हैं। धर्म की व्याख्या में निश्चय और व्यवहारनय है। निश्चय के अभाव में व्यवहार केवल शुष्क क्रियाकांड मात्र है, अभीष्ट सिद्धि के लिए एक अकेला ही पर्याप्त नहीं। सद्गृहस्थ और मुनि के धार्मिक विचारों में अन्तर ही केवल यह है कि सद्गृहस्थ अपने धर्माचरण में निश्चय विचारों की गौणता रखता है और मुनि अपने धर्माचरण में निश्चय विचारों की प्रधानता रखते हैं। तात्पर्य यह कि एक के बिना दूसरा पंगु है। स्वामी जी ने सम्यक् आचार और सम्यक् विचार की एकता का पद-पद पर दिग्दर्शन कराया है। अपनी रचनाओं में "अध्यात्मवाद" के मार्ग को प्रशस्त किया है। तत्वदर्शी महान् आचार्यों ने यही तो बताया था कि चेतन और जड़ दो भिन्न हैं। चेतन के उपासक को अन्तरात्मा और जड़ के उपासक को बहिरात्मा कहा है। स्वामी जी ने सम्बोधन किया, भव्यो ! भटकते क्यों हो ? मूल लक्ष्य की ओर चलो, आत्मा की उपासना करो, उसी में तुम्हारा कल्याण निहित है।

श्री 'चंचल' जी ने उपरोक्त ग्रंथों का (जिनकी भाषा संस्कृत-प्राकृत मिश्रित अपने प्रकार की एक विशिष्ट शैली की है) जन-साधारण के ज्ञानलाभार्थ सरल और ललित पद्यों में अनुवाद किया है, बहुत सुन्दर एवं हृदयस्पर्शी है।

ग्रंथ की भूमिका में प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हीरालाल जी जैन डायरेक्टर वैशाली प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर (बिहार) ने मार्मिक विवेचन करते हुए प्रकट किया है कि श्री तारण स्वामी जी के सिद्धान्त जैन धर्म के मूल स्वरूप को बताने वाले हैं, और उनके द्वारा की गई क्रांति समयानुकूल और धर्म के प्रति फैली हुई भ्रांति की उन्मूलक था।

सागर निवासी तीर्थभक्त, समाजभूषण श्रीमान् सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी ने ग्रंथ की उपयोगिता समझकर लगभग ६०००) व्यय करके १००० प्रतियां प्रकाशित करवाई हैं।

मानवकल्याण के लिए जिन्होंने जो कुछ किया है वे सभी अभिनंदनीय हैं।

हितैषी—

— ब्र० गुलाबचन्द।

तीर्थभक्त, समाजभूषण सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी का

❀ संक्षिप्त परिचय ❀

तारण समाज और समाजों की अपेक्षा एक छोटी सी समाज है, किन्तु छोटी सी समाज होते हुए भी आज उसने अन्य समाजों के बीच अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उसकी अपनी संस्कृति है, अपनी परंपरा है, अपने धर्मस्थल और अपने शिक्षा के स्थान हैं। जंगल में मंगल नहीं होता, किंतु उसके जो अपने तीर्थ हैं—वे तीर्थ जहां कि तारण स्वामी का बचपन बीता, जहाँ उन्होंने जाति-पांति और ऊँच-नीच के भेदभाव को तज कर, मानवता को समान रूप से अध्यात्मवाद का पाठ पढ़ाया और जहाँ की ऊँची ऊँची पहाड़ियों पर बैठकर उन्होंने घोर तपस्या कर अपने कर्मों की निर्जरा की, वे तीर्थ वास्तव में ही जंगल में मंगल करने वाले हैं। घनघोर जंगलों के बीच, उमड़ते हुए बादलों के नीचे, नाचते हुए मयूरों की पृष्ठभूमि में इन तीर्थक्षेत्रों में वास्तुकला का जो प्राचीन और अर्वाचीन सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, वह वास्तव में ही एक दर्शनीय वस्तु है, किन्तु इन सब विविधताओं का केन्द्रबिन्दु कौन है, किसके कन्धों पर खड़ी होकर तारण समाज की यह संस्था हरी बनी है और पूरी तारण समाज की तसवीर के पीछे से ऐसा वह कौन व्यक्ति है जो उसमें से झांक रहा है, और तसवीर को दोनों हाथों से पकड़े हुए जो गौरव के साथ यह कह रहा है कि यह तारण समाज की तसवीर है; मुझे इसका गौरव है और अपने रहते यह तसवीर सदा मुसकराती ही रहेगी, ऐसा वह व्यक्ति है दूसरा कोई नहीं, केवल इस ग्रन्थ का प्रकाशक ही, दो भाइयों का एक वह जोड़ा जो हमें बरबस कलियुग की परिधि से बाहर खींच ले जाता है और उन भाइयों के जोड़ की याद दिलाता है जो सदा दो काया और एक प्राण होकर रहते थे।

अगर किसी धार्मिक मेले में, किसी सभा में, किसी संस्था के अधिवेशन में और दरिद्रता से चीखती हुई नंगी और भूखी प्यासी मानवता की सेवा में, आपको कहीं भरत और राम से दो भाई दीख पड़ें—कहीं आपको यह दीख पड़े कि छोटे बड़े का भेद छोड़कर, परहित के कार्य में कहीं दो इकाइयाँ एक होकर आपस में विचार-विमर्श कर रही हैं और कहीं आपको यह दीख पड़े कि देश, धर्म या जाति के कार्य में दो ऐसे सहोदर कार्य कर रहे हैं जो एक दूसरे की बात को काटना जानते ही नहीं प्रत्युत एक दूसरे से एक कदम आगे बढ़कर यह कह रहा है कि—

नौका में पानी बढ़े, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥



तीर्थभक्त समाजभूषण श्री सेठ भगवानदास जी, सागर

—तो आप किसी से बिना पूछे-पंछे, बिना किसी से पता लगाये फौरन यह समझ जाइए कि यह जोड़ा समाजभूषण सेठ भगवानदास और शोभालाल जी का ही है, जो धरती पर आज भी भ्रातृस्नेह को मूर्तिमान करता हुआ फिर रहा है।

समाजभूषण सेठ भगवानदास और शोभालाल सागर निवासी श्री पूरनचन्द जी समैया के पुत्र हैं। आपके एक बड़े भ्राता और थे जिनका नाम श्री मोहनलाल जी था। स्व० श्री मोहनलाल जी की कोई संतान नहीं है, किन्तु उनकी विधवा पत्नी आज भी विद्यमान हैं और अपने परिवार के साथ पूर्ण धार्मिकतामय जीवन बिता रही हैं। सेठ भगवानदास जी के पाँच पुत्र हैं—(१) डालचंद (२) प्रेमचन्द (३) शिखरचन्द (४) दीपचन्द और (५) अशोककुमार। तथा श्री शोभालाल जी के दो पुत्र हैं—(१) मानिकचन्द (२) हुकुमचन्द। दोनों भाइयों की दो-दो सुशील पुत्रियां तथा अनेकों पौत्र और पौत्रियाँ भी हैं, और इस तरह आपका घर सब भांति सम्पन्न है।

आज से ४० साल पहले इनकी स्थिति बहुत ही साधारण थी, किन्तु आज जो उदारता और दानादिली उनमें है, चित्त की यही वृत्ति भी उस समय थी, इसमें कमी नहीं थी, और अपने परिश्रम से कमाये हुए द्रव्य का वे अपने मित्रों के और सम्बन्धियों के बीच में उस समय भी वैसा ही उपयोग किया करते थे। समय पलटते देर नहीं लगती; कुछ पुण्य का संयोग ऐसा मिला कि उस समय के बाद से ही, आपकी जो स्थिति पलटी तो पलटती ही गई और आज तो आपका निराला ही ठाठ है, लेकिन ठाठ के मायने यह नहीं कि अपने आप किसी को समझते ही नहीं या गरीबों के बीच में बैठकर आप उनके सुख दुःख के भागी ही नहीं बनते। ठाठ बनने के बाद ६५ प्रतिशत लोगों में ये बातें आ जाती हैं, किन्तु आप उन ५ प्रतिशत लोगों में से एक हैं, जो फलों का भार पाकर वृक्ष के समान झुकते ही गये, और जैसे जैसे घर में लक्ष्मी बढ़ी दान और धर्म में जिनका हाथ बढ़ता ही गया। नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना जब दरबार में बैठते थे, तो जो भी उनके सामने आता था, खाली हाथ वापिस नहीं जाता था। हाथ उनके सदा ऊँचे ही रहते थे, पर क्या मजाल कि हाथ के साथ उनके नयन जरा भी ऊँचे उठ जायें। एक कविहृदय को यह बात कुछ अचरज भरी लगी, इतना बड़ा दानी, पर जरा भी गुमान नहीं। एक कागज उठाया और—

सीखी कहाँ नवाब जू, ऐसी बांकी देन।
ज्यों ज्यों कर ऊँचे उठें, त्यों त्यों नीचे नैन॥

यह दोहा लिखकर उत्तर के लिए नवाब साहब के पास भिजवा दिया। नवाब सा० ने तुरन्त लिख भेजा—

देनहार कोऊ और है, जो देवत दिन रैन।
लोग भरम मो पै करें, यासें नीचे नैन॥

समाजभूषण जी के साथ भी यही उक्ति घटती है। लोगों ने उनके हाथ अवश्य ऊँचे रहे देखे हैं, लेकिन नैन उनके सदा ही नीचे रहे हैं। तारण समाज के क्षेत्रों को और उसके साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए तो आपने लाखों का दान दिया ही है और आये दिन वह दान उसे

तो देते ही रहते हैं, लेकिन दिगम्बर जैन मूर्तिपूजक समाज की संस्थाओं को भी आप अपने दान से वंचित नहीं रखते हैं और जब भी आपके सामने कोई मांग आती है, आप उसे एक कदम बढ़ाकर पूरी कर देते हैं ।

साल में बराबर आप नियम से गरीबों को सहस्रों वस्त्र बँटवाते ही हैं। जिनको पाने के लिए दूर दूर से भिखारी आ ही जाते हैं। सागर में आपके स्व० भ्राता जी के नाम से एक "मोहन धर्मार्थ औषधालय" भी चल रहा है जिससे प्रतिदिन सैकड़ों गरीब औषधि प्राप्त करते रहते हैं। धर्म के प्रति आपका स्नेह इतना अधिक है कि जब भी कहीं मेला भरता है या पूज्य ब्रह्मचारी जी का शुभागमन होता है पूरा का पूरा कुटुम्ब उस ओर मुड़ जाता है। जब कोई सामाजिक या धार्मिक गुत्थी उलझ जाती है तो अपने विश्राम का भी ध्यान न रख कर रात के ४-४ बजे तक बैठकर समस्या सुलझाया करते हैं ।

सुधार के मार्ग में इतने आगे बढ़े हुये हैं कि आज जैनियों में ही नहीं इतर समाजों में भी जो आदर्श विवाह होते हैं, उनके जनक आप ही हैं । अपने पुत्र-पुत्रियों के स्वयं आदर्श विवाह कर, आपने ही सबसे प्रथम इस समाज में इस क्रान्ति का बीजारोपण किया । ये शादियां सामूहिक रूप से आयोजित की जाती हैं जिसमें श्री गुरु महाराज के केवल मालारोहण के पुण्य मंत्र ही वर और वधू को जीवन भर के लिए पाणिग्रहण के पवित्र बंधनों में बांध देते हैं। विनोदी दोनों भ्राता इतने हैं कि जहां चार पंच मिले वहीं उनकी हँसी का पिटारा खुल जाता है और फिर वे उनमें इतने घुल मिल जाते हैं, जो देखते ही बनता है ।

निसई जी पर उदासीन आश्रम और पाठशाला आपकी ही देन है। वि० सं० १९९७ में सागर में वेदी प्रतिष्ठा कराने के उपलक्ष में आप समाज से 'सेठ सा०' की तथा २००१ में अपनी अन्यान्य सेवाओं के उपलक्ष में 'समाजभूषण' की पदवी से विभूषित हुए हैं। आज तक आप जैन अजैन संस्थाओं को लाखों का दान कर चुके हैं, और आये दिन करते ही जाते हैं । तारण साहित्य से तो आपको अगाध प्रेम है और उसके प्रचार में दोनों भ्राता सब तरह से अपना तन, मन और धन लगाने को प्रस्तुत बने रहते हैं। निसई जी क्षेत्र की तो आपने काया पलट ही कर दी है। आपके द्वारा वहां का निर्मित स्वाध्याय भवन, तारण द्वार, ब्रह्मचारी निवास, धर्मशाला तथा वेदी जी का विस्तृत रूप वास्तव में देखने योग्य वस्तु हैं ।

श्री गुरुदेव दोनों भाइयों की यह जोड़ी सुरक्षित बनाये रखें जिससे देश धर्म व जाति का अहर्निश कल्याण होता रहे, यही पूरी तारणसमाज की प्रार्थना है और है मंगल कामना ।

—चंचल ।



तीर्थभक्त समाजभूषण श्री सेठ शोभालाल जी, सागर

प्रस्तावना

[डा० हीरालाल जैन, डायरेक्टर-वैशाली प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर]

कुछ वर्ष पूर्व तारण स्वामी की तीन रचनाएं अमृतलाल जी चंचल के अनुवाद सहित 'तारण-त्रिवेणी' के नाम से प्रकाशित हुई थीं। उस ग्रन्थ की प्रस्तावना में मैंने संत परम्परा में तारण स्वामी के स्थान व उनकी ग्रन्थों के विषय व भाषा सम्बन्धी विशेषताओं पर अपने विचार प्रकट किये थे। मुझे चंचल जी से यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि उक्त प्रकाशन बहुत लोकप्रिय हुआ और उसके द्वारा जनता की रुचि स्वामी जी की रचनाओं की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगी। इसी लोक-रुचि और आवश्यकता की पूर्ति के लिये अब चंचल जी ने तारण स्वामी की अन्य कुछ रचनाओं का अनुवाद प्रस्तुत किया है जो स्वागत करने योग्य है।

तारण स्वामी की रचनायें धार्मिक भावों से ओत प्रोत हैं और उनमें अध्यात्म चिन्तन की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। स्वामी जी की यह विचारधारा एक ओर तो भारतीय सन्त परम्परा से मेल खाती है और दूसरी ओर अपनी कुछ विशेषता भी रखती है। आप वैदिक परम्परा की उपनिषद् आदि रचनाओं से लेकर कबीर की वाणी तक के सन्त साहित्य को देखिये, बौद्धों के सिद्धों और योगियों के दोहा कोषों और चर्या-पदों का अवलोकन कीजिये एवं जैन साहित्य में कुन्दकुन्द आचार्य से लेकर योगीन्द्र व रामसिंह आदि मुनियों की रचनाओं का स्वाध्याय कीजिये और उनके साथ तारणस्वामी की वाणी पर ध्यान दीजिये! आपको वही भारतीय अध्यात्म चिन्तन का प्रवाह दिखाई देगा जिसका केन्द्रीय विषय है संसार की निस्सारता, भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता, इन्द्रियों के भोग-विलासों और सुखभासों की तुच्छता तथा आत्म और परमात्म अनुभवों की सारभूतता। भारत के ऋषियों मुनियों ने जब से इस नश्वर देह से भिन्न शाश्वत आत्मा की सत्ता की पहिचान पाया है तब से उन्हें व उनके अनुयायिओं को सांसारिक वासनाओं से विरक्ति होगई है। यही नहीं, किन्तु उनकी समस्त विचार-सरणि और चर्या उस दिशा में प्रवाहित हुई है जहाँ उस आत्मा का शुद्ध, बुद्ध और नित्य स्वरूप प्रकाश में आ सके। इस भावना ने संसार की भौतिक लीला के बीच भारतीयों के हृदय में अध्यात्म की एक अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी है, जिससे यहां के आबालवृद्ध सभी मनुष्यों को इस लोक के साथ-साथ परलोक सुधारने की भी प्रेरणा मिलती रहती है।

अध्यात्म की इस सामान्य भारतीय चिन्तन धारा में वैदिक और जैन परम्परा की अपनी अपनी भी कुछ विशेषतायें हैं। वैदिक धारा में इसका चरम विकास वेदान्त दर्शन में पाया जाता है जिसके अनुसार ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या-जीवो ब्रह्मैव नापरः। अर्थात् समस्त दृश्यमान चराचर

जगत् के मूल में एक सच्चा तत्व ब्रह्म ही है जो इन्द्रियातीत है। उसके अतिरिक्त जो इन्द्रियगोचर पदार्थ हैं वे सब मिथ्या हैं। माया रूप हैं। जो सजीव पदार्थों में हम एक चेतन तत्व पाते हैं वह ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं। इस दृष्टि से एक मात्र विश्वव्यापी तत्व ब्रह्म ही सत्य है। शेष समस्त गोचर व अनुभवगम्य पदार्थ माया है, मिथ्या है। जीव के यदि कोई बंधन है, आवरण है, तो दृष्टि-भ्रम का ही। जब जीव अपने को ब्रह्म रूप जान जाता है तब वह शुद्ध, बुद्ध मुक्त होकर उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है और यही उसका अन्तिम ध्येय है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

इसके विरुद्ध जैन धर्म ने जीव और अजीव दोनों तत्वों को सत्य स्वीकार किया है। अजीव का सूक्ष्मतम रूप कर्म-रज है जो आत्मा के साथ संबद्ध होकर उसे नाना भवों व पर्यायों तथा सुख दुःख का अनुभव कराती है। यह कर्म-रज जीव तत्व में तभी अनुप्रविष्ट होती और उसको बांधती है जब जीव के मन, वचन, काय की क्रिया और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विकार होता है। जब जीव अपनी चैतन्यरूप आत्मसत्ता को जड़ तत्व से भिन्न पहिचान कर सतर्क हो जाता है, संयम द्वारा इन्द्रियों और कषायों का दमन करने लगता है तथा आत्मतत्व में तल्लीन रहने लगता है तब उसके कर्म बन्ध की परम्परा क्षीण हो जाती है, समस्त बंधे हुये कर्म नष्ट हो जाते हैं, यही उसका मोक्ष व निर्वाण है।

इस प्रकार जैन तत्वज्ञान के अनुसार कोई विश्वव्यापी एक मात्र ब्रह्म नहीं है, जिसमें समस्त जीव मुक्त होने पर विलीन हो जायें। किन्तु मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी कीट पतंग एवं वनस्पतियों तक जितने सचित्त प्राणी हैं उन सब की अपनी अपनी अलग आत्म-सत्ता है। इस प्रकार जीवों की संख्या अनन्त है। उनका संसार में बन्धन उनकी भ्रान्ति मात्र रूप नहीं है, किन्तु उनकी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं द्वारा सींची हुई कर्म रज से उत्पन्न हुआ है। जिस जीव ने संयमादि द्वारा अपने को इस बन्धन से मुक्त कर लिया वह किसी अन्य सत्ता में अपने को विलीन नहीं करता, किन्तु स्वयं परमात्मा बन जाता है। अनादिकाल से यह क्रम चला आ रहा है और इस प्रकार परमात्माओं की संख्या भी अनन्त है। जगत का जड़ तत्व भी मिथ्या नहीं है, पृथ्वी, आकाश व काल की अपनी अपनी पृथक् सत्ता है और उनके द्वारा जीवों का अपने अपने भावों के अनुसार उपकार भी होता है और अपकार भी। चेतन को जड़ से मुक्त करने की प्रक्रिया का नाम ही धर्म है।

इस प्रकार धर्म का मूल स्वरूप आध्यात्मिक ही सिद्ध होता है। किन्तु जब धर्म को मूर्तिमान स्वरूप देने का प्रयत्न किया जाता है, उसे व्यावहारिक व सामाजिक बनाया जाता है, तब उसमें नाना प्रकार के दृश्यमान प्रतीकों का समावेश हो जाता है। जिन परमात्माओं के चरित्र का

ध्यान करके हम अपने चरित्र को सुधारते हैं. उनकी हम मूर्तियाँ स्थापित कर लेते हैं और उनके प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति-भाव व्यक्त करने के लिये उनकी स्तुति करते एवं नाना द्रव्यों से उनकी पूजा अर्चना करने लगते हैं । और जब व्यक्ति ही नहीं, किन्तु समाज का समाज इन्हीं पूजा अर्चा आदि क्रियाओं को धर्म का सर्वस्व समझने लगता है और अध्यात्म भाव को भूलने लगता है. यही नहीं. किन्तु इन्हीं क्रियाओं द्वारा वह अपने इहलौकिक अभीष्टों को सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगता है, तब धर्म में विकार उत्पन्न हो जाता है और मनीषी साधुओं को इसकी चिन्ता हो उठती है कि सच्चे धर्म की यह विकृति किस प्रकार दूर की जाय ।

तारण स्वामी इसी प्रकार के महान साधु हुए हैं । उन्होंने देखा कि जिस अध्यात्म को विशुद्ध धारा को तीर्थंकरों, उनके गणधरों एवं कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने प्रवाहित किया था, वह मूर्तिपूजा सम्बन्धी क्रिया-काण्ड द्वारा कुंठित और अवरुद्ध होने लगा है, तब उन्होंने अपने उपदेश द्वारा, अपनी वाणी के बल से, लोगों का ध्यान पुनः अध्यात्म की ओर आकर्षित किया । उनकी जितनी रचनाएं उपलब्ध हैं उन सब में वही विशुद्ध जैन अध्यात्म की धारा प्रवाहित है । उसमें कोई खंडन-मंडन नहीं, रागद्वेष नहीं, किसी की अपनी मान्यता को आघात पहुँचाने की भावना नहीं । उसमें तो सीधे और सरल रीति से जैन अध्यात्म की नाना भावनाओं का स्वरूप बतलाया गया है । न उनकी वाणी में किसी सम्प्रदाय-विशेष का संगठन करने का भाव है, और न किसी दर्शनशास्त्र को उत्पन्न करने का प्रयत्न । उसमें यदि कुछ है तो केवल वही अध्यात्म की पुकार । जड़ प्रवृत्तियों में मत उलझो, सच्ची आत्मशुद्धि की ओर ध्यान दो ।

स्वामी जी का यह उपदेश उनके नाम से प्रचलित अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है । जिस काल में और जिस रूप में उन्होंने यह उपदेश दिया होगा वह अवश्य ही लोगों के हृदयंगम होता होगा । तब ही तो उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ी, जो आज तक भी कई सहस्र पाई जाती है । तथापि उपलब्ध ग्रन्थों की भाषा व प्रतिपादन शैली ऐसी पाई जाती है कि वह बिना गुरु उपदेश के आजकल के पाठकों को सुज्ञेय नहीं है । इस कठिनाई को दूर करने का प्रथम श्रेय स्वर्गीय ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसाद जी को है, उन्होंने अनेक ग्रन्थों की सुबोध टीकायें लिखकर स्वामी जी के उपदेशों का मर्म खोलने का प्रयत्न किया था। अब श्री अमृतलाल जी चंचल ने अपनी काव्य-कुशलता और सरलार्थ रचना द्वारा इन ग्रन्थों को और भी सुगम, आकर्षक और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है, जो प्रशंसनीय है।

प्रस्तुत रचना के आधारभूत ग्रन्थ तारनस्वामी द्वारा विरचित चार ग्रन्थ हैं। श्रावकाचार, पंडितपूजा, मालारोहण और कमलबत्तीसी। इन्हीं का अनुवादक ने नया नाम 'सम्यक् आचार:

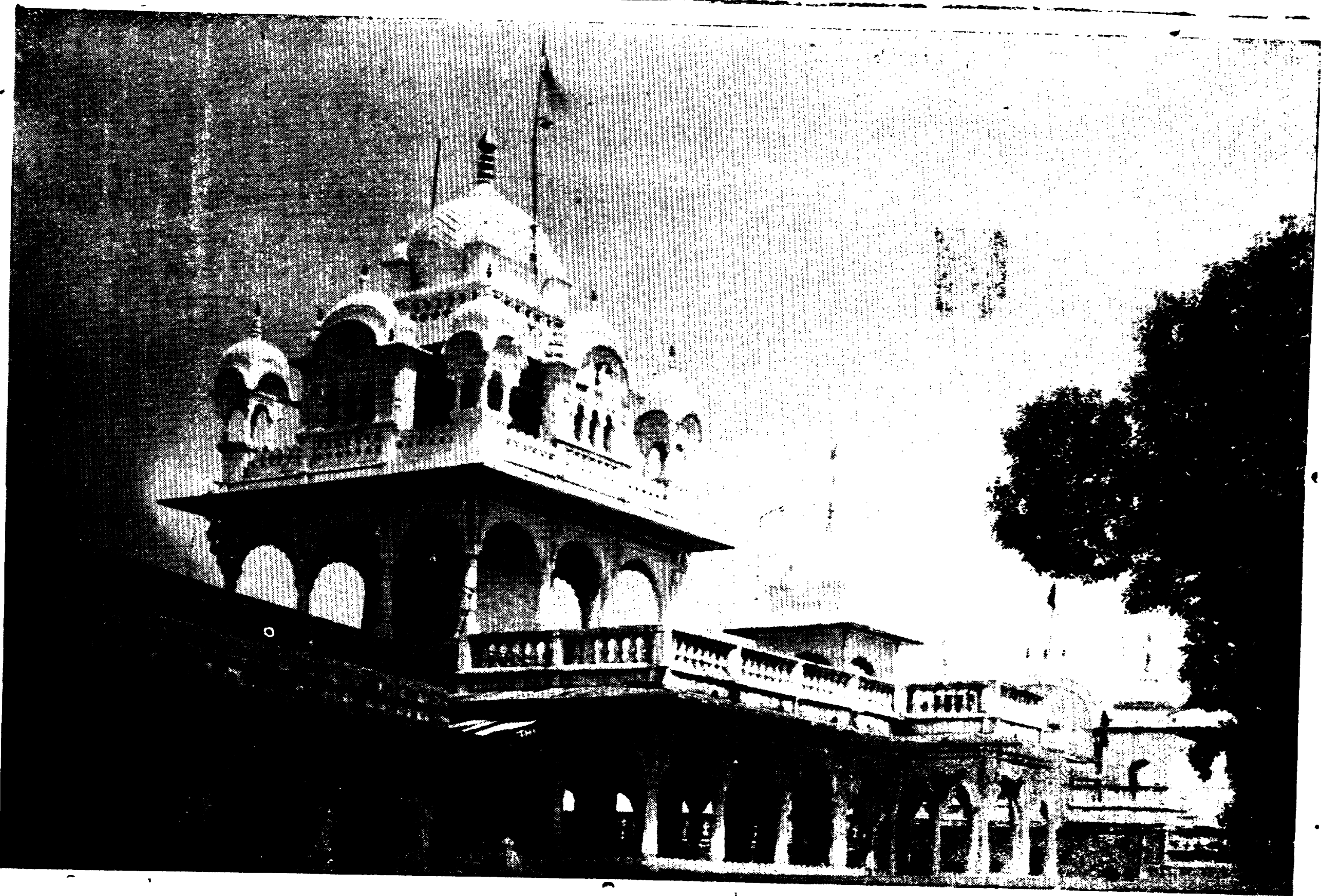
सम्यक् विचार' रख दिया है। पाठकों को प्रतीत होगा कि अनुवादक अपनी रचना में मूल ग्रन्थों के पाठ का उल्लंघन कर गये हैं, किन्तु यदि वे शान्त हृदय से विचार करेंगे तो उन्हें यह विश्वास उत्पन्न होने में देर नहीं लगेगी कि अनुवादक ने उल्लंघन 'शब्दरचना मात्र' में ही किया है-और वह इसीलिये कि जो गूढ़ तत्व मूल ग्रन्थ की वाणी में सूक्ष्मता से सूत्र रूप में अन्तर्हित हैं, वे सुस्पष्टता से आज की सरल और चित्ताकर्षक भाषा-शैली में उतर आवें।

मैंने जहां तक नई रचना का मूल पाठ से मिलान करके देखा है वहां तक मुझे तो सन्तोष हुआ है कि अनुवादक ने अपने कवि-कर्तव्यों को निबाहते हुए बड़े प्रयत्न और सावधानी से मूलार्थ को ही सुस्पष्ट करने का उद्योग किया है।

यों तो प्राचीन आचार्यों की वाणी अपने रूप में अद्वितीय है और कोई भी उनका सच्चा सर्वांग सम्पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत करने में सोलहों आने सफल होने का दावा नहीं कर सकता, किन्तु चंचल जी का यह प्रयास उचित रूप से उचित दिशा में हुआ है जिसके द्वारा इन प्राचीन रचनाओं को लोकप्रिय बनाने में बड़ी सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता व प्रकाशक अभिनन्दनीय हैं।

मुजफ्फरपुर (बिहार)
२४-४-१९४७ ई०

—हीरालाल जैन।



श्री निमई जी का मूल मन्दिर (जिसका द्विगुण विस्तार वि० सं० २०१० में श्री समाजभूषण जी सागरवालों द्वारा किया गया)

अपनी बात

आज के इस विज्ञान के युग में, जब कि कृत्रिम उपग्रह, पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं, पलक मारते ही लोग चन्द्रमाकी धरती पर उतर जाने का स्वप्न देख रहे हैं और मनुष्य के मस्तिष्क इस बात से खाली नहीं रह गये हैं कि कुछ वर्षों के बीच में ही जगह जगह यंत्र-चालित मानव दृष्टिगोचर होने लगेंगे, "धर्म" नाम का शब्द बड़ी विडम्बनापूर्ण स्थिति में पड़ गया है और लोग जैसे उसका उपहास सा करने लगे हैं, लेकिन देश, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार धर्म की परिभाषा में चाहे जो अन्तर आजाये, धर्म का मूलरूप न कभी नष्ट हुआ है और न होगा, और उसका एक ही कारण है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है पुद्गल से नहीं। और जब आत्मा अमर है, अविनाशी है और ध्रुव है तो उसका जो स्वभाव धर्म है, उसको कौन नष्ट कर सकता है? वह संसार से कैसे लुप्त हो सकता है?

अभी हाल में ही (१७नवम्बर १९५७ को) दिल्ली में जो विश्वधर्म सम्मेलन हुआ था, उसमें बोलते हुए राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था—

"आज विज्ञान की प्रगति ने एक दूसरी और जटिल समस्या उपस्थित कर दी है। प्रकृति और प्रकृति के साधनों पर मनुष्य इतना अधिकार पा चुका है, और पाता जा रहा है कि वह अपने को केवल सर्वज्ञ ही नहीं, सर्व शक्तिमान भी मानने लगा है और भौतिक प्रगति एवं भौतिक सुख को ही सर्वश्रेष्ठ ध्येय मानने लग जाये तो उसमें आश्चर्य नहीं। धर्म का मूल तत्व भौतिक साधनों पर निर्भर नहीं बल्कि अध्यात्म पर आधारित है। आज की परिस्थिति में मनुष्य उस मुख्य आधार को ही खोता जा रहा है और इसके परिणामस्वरूप मनुष्य-समाज भौतिक पदार्थों के लिये घातक होड़ में लग गया है और इसलिये परस्पर सहिष्णुता और उदारता की भावना कमजोर होती जा रही है।"

"...... धर्म अथवा अध्यात्मवाद का सहारा लिये बिना मानव न तो विज्ञान की ही उन्नति से लाभ उठा सकता है और न ही सर्वनाश के अभिशाप से बच सकता है।"

धर्म का स्वरूप क्या है, इस को समझाते हुए आपने कहा—

"मूल में सब धर्म एक रूप हैं और सब का एक ही ध्येय है, वह है मानव की आत्मा का पूर्ण विकास, जिससे वह सच्ची शान्ति अथवा मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर सके। दूसरे शब्दों में जिससे वह परमात्मा को प्राप्त कर सके। मनुष्य की यह महत्वाकांक्षा इतनी प्रबल और सारगर्भित है कि दैनिक जीवन में इससे बढ़कर हमारा पथप्रदर्शन और कोई भावना नहीं कर सकती। सच्चे धर्म के धरातल पर पहुँचते ही आपसी मतभेद, सभी प्रकार के कलह और वैमनस्य सहसा लुप्त हो जाते हैं और मानव ऐसी व्यापकता के दर्शन करता है कि उसे सब एक समान दिखाई

देने लगते हैं। इस भावना का ही दूसरा नाम जीवन का आध्यात्मिक पक्ष है। यह स्पष्ट है कि इस आध्यात्मिक पक्ष का मानव के विकास और उसकी सच्ची सुख शान्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

इसी धर्म की आधारशिला पर खड़े होकर १६ वीं शताब्दी के आध्यात्मिक संत श्री गुरु तारण तरण महाराज ने कई ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उनके श्रावकाचार, पण्डित पूजा, मालारोहण और कमलबत्तीसी इन चार ग्रन्थों का एक संग्रह है। आचार खंड में श्रावकाचार और विचार खंड में बाद के तीन ग्रन्थों का (तारण त्रिवेणी का) समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ श्री गुरुने गृहस्थों के निमित्त लिखा है। गृहस्थों से उनका तात्पर्य उन गृहस्थों से है जो जप, तप, व्रत अथवा अन्य क्रियाओं से तो हीन हैं, किन्तु जो अनात्मवादी नहीं हैं; आत्मा पर जिनको श्रद्धान है और जो कम से कम इतना अवश्य जानते हैं कि शरीर अलग वस्तु है और आत्मा अलग, शरीर नाशवान है, जबकि आत्मा अमर है, ध्रुव है और अविनाशी है।

जैन धर्म के भंडार में आचार विचार के ग्रन्थों की कमी नहीं। अनेकों आचार्यों ने इस विषय में ज्ञान दान दिया है और भूलती भटकती मानवता को अनेकों तरह से मार्ग बताया है, लेकिन उनमें और तारणस्वामी के ग्रन्थों में मौलिक अन्तर है, और वह अन्तर यह है कि जहां अन्यान्य आचार्यों ने गृहस्थों के पूर्ण व्यावहारिक सांचे में ही ढल जाने की प्रेरणा की है, वहाँ श्री तारणस्वामी ने सबको अध्यात्मवाद की ओर ही मोड़ने का प्रयास किया है, फिर चाहे वह विषय पूर्ण व्यावहारिक ही क्यों न रहा हो। यदि पाठक इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ेंगे तो उन्हें यह अनुभव करते देर न लगेगी कि पूरे ग्रन्थ में स्वामीजी की एक ही टेर चल रही है और वह टेर है—

देवं गुरुं श्रुतं वंदे धर्मं शुद्धं च विंदते ।
तीर्थं अर्थलोकं च स्नानं च शुद्धं जलं ॥

आतम ही है देव निरंजन, आतम ही सद्गुरु भाई !
आतम शास्त्र, धर्म आतम ही, तीर्थ आत्म ही सुखदाई ॥
आत्म-मनन ही है रत्नत्रय, पूरित अवगाहन सुखधाम ।
ऐसे देव, शास्त्र, सद्गुरुवर, धर्म, तीर्थ को सतत प्रणाम ॥

वे मनुष्यों के कार्य-कलापों को नहीं, प्रत्युत उनकी वृत्ति को ही अध्यात्मवाद की ओर एकबारगी मोड़ देना चाहते हैं, ताकि जड़वाद के जाल में वह किसी तरह फंस ही नहीं सके, क्योंकि आपके विचार से जिसके हृदय में जड़वाद का बसेरा हो गया, वहां शुद्ध बुद्ध परमात्मा का प्रकाश फिर जाता ही नहीं। अपने इसी ग्रंथ की २० वीं गाथा में वे कहते हैं—

अनृतं विनासी चिन्ते, असत्यं उत्साहं कृतं ।
अन्यानी मिथ्या सद्भावं, सुद्ध बुद्ध न चिन्तए ॥

अनृत वस्तुओं के चिन्तन से, मार्ग असत् बढ़ता है ।
इस पथ का अनुगामी नितप्रति, मिथ्या पथ चढ़ता है ।।
यह मिथ्यात्व जमा लेता है, जिसके उर में डेरा ।
शुद्ध, बुद्ध प्रभु का न वहाँ फिर, रहता नेक बसेरा ।।

आगे एक जगह वे पुनः यही बात दोहराते हैं—

मिथ्यात मति रतो जेन, दोसं अनंता नंतयं ।
सुद्ध दिस्टि न जानन्ते, असुद्धं सुद्ध लोपनं ।।

जो मिथ्यामति के सरवर में, नितप्रति करता क्रीड़ा ।
वह अनन्त दोषों का भाजन, होकर सहता पीड़ा ।।
दर्शन--मणि के सपने तक में, उस को दर्श न होते ।
यत्र तत्र वह दुर्गतियों में, खाता नित प्रति गोते ।।

अध्यात्मवाद की ओर उनका यह मोड़ इतना प्रबल है कि उन्होंने हर वस्तु को अध्यात्म के रंग में रंगने का प्रयास किया है,—हर वस्तु में उन्होंने आध्यात्मिकता की झांकी देखी है ।

मदिरा क्या है, यह सब जानते हैं, और सप्तव्यसन के अन्तर्गत होने से सबने उसको त्याज्य ही बतलाया है, लेकिन चेतन और अचेतन को नहीं पहचानना, क्या यह भी कोई मदिरापान है ? जी हां ! है, श्रीगुरु का अध्यात्मवाद कहता है—

अनृतं असत्य भावं च, कार्याकार्य न सूच्यते ।
ते नरा मद्यपी होन्ति, संसारे भ्रमनं सदा ।।

जो नर अचेतन और चेतन को नहीं पहिचानते ।
क्या कार्य और अकार्य क्या, जो नर नहीं यह जानते ।।
अविवेक मदिरा से छलकतीं, पी निरन्तर प्यालियां ।
वे मद्यपी संसार की नित, छानते हैं नालियां ।।

शुद्ध तत्वं न वेन्दन्ते, अशुद्धं शुद्ध गीयते ।
मद्यं ममत्व भावेन, मद्य दोषं जथा बुधैः ।।

जो शुद्धतम तत्वार्थ का लाते न मनमें ध्यान हैं ।
जड़, पुद्गलों का आत्मवत, करते सतत जो गान हैं ।।
इस भांति के मिथ्यात्व में ही, जो सदा लवलीन हैं ।
वे मद्यपी हैं, छानते नित चतुर्गति मतिहीन हैं ।।

इसी तरह गुरुदेव 'आखेट' के अन्तर्गत "पारधी" की अपनी व्याख्या करते हैं।

पारधी दुस्ट सद्भावं, रौद्रं ध्यान च संजुतं।
आरति आरक्तं जेन, ते पारधी च संजुतं॥

जो निठुर भावों से भरा, कटु रौद्र का जो धाम है।
सर्वज्ञ कहते 'पारधी' उस जीव का ही नाम है॥
जो जीव आर्त-ध्यान में ही, लिप्त है आसक्त है।
वह भी सरासर 'पारधी' की भावना से युक्त है॥

स्वामी जी की अपनी दूसरी विशेषता है बाह्याडम्बरों के प्रति जागरूकता,— बाह्याडम्बरों को समूल नष्ट करने की प्रवृत्ति जैसी कि दादू, कबीर, नानक आदि सभी सन्तों में समानरूप से व्याप्त थी। बाह्याडम्बरों पर उन्होंने कहीं पर्दा नहीं डाला है, प्रत्युत उनकी उन्होंने जी भरके भर्त्सना की है। आत्मप्रतीति के बिना जप, तप, क्रिया, व्रत साधने वालों के प्रति उनका व्यक्तित्व कहता है—

जस्य संमिक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजुतं।
संजम क्रिया अकार्जं च, मूल बिना वृषं जथा॥

जो उग्र तप तपता है, पर श्रद्धान से जो हीन है।
वह मूर्ख अपना तन बनाता, निष्प्रयोजन क्षीण है॥
जिस भांति होती वृक्ष की रे! मूल ही आधार है।
उस भांति जप, तप, क्रिया में, दर्शन प्रथम है-सार है॥

एक स्थल पर वे पुनः कहते हैं—

संमिक्त बिना जीवा, जानै अंगाई श्रुत वहु भेयं।
अनेयं व्रत चरनं, मिथ्या तप वाटिका जीवो॥

यह जीव तीनों लोक के, श्रुतज्ञान का भण्डार हो।
व्रत, तप क्रिया से युक्त हो, आचार का आगार हो॥
पर यदि न इसके हृदय में, समकित-सलिल का ताल है।
जप, तप, क्रिया, व्रत सभी, इसका एक मायाजाल है॥

संसार की जड़वादिता पर भी वे इस ग्रन्थ में चुप नहीं बैठे हैं और एक सुधारक के नाते उन्होंने जड़पूजा को भी इसमें अछूता नहीं छोड़ा है। वे कहते हैं—

अदेवं देव प्रोक्तं च, अंध अंधेन दिस्टते।
मार्गं किं प्रवेसं च, अंध कूप पतंति ये॥

चैतन्यता से हीन जो अज्ञान, जड़ स्वयमेव हैं ।
उनको बना आराध्य ये नर, कह रहे ये देव हैं ॥
अन्धों को अन्धे राज ही यदि, स्वयं पथ दिखलायेंगे ।
तो है सुनिश्चित वे पथिक जा, कूप में गिर जायेंगे ॥

और—

असुद्धं प्रोक्तं स्वैव, देवलि देवपि जानते ।
षेत्रं अनन्त हिण्डते, अदेवं देव उच्यते ॥

जो मन्दिरों की मूर्तियों को, मानते भगवान हैं ।
वे जीव करते हैं असम्यक्, अशुभ कर्म महान हैं ॥
पाषाण को, जड़ को अरे जो, देव कह कर मानते ।
वे नर अनन्तानन्त युग तक, धूल जग की छानते ॥

मोक्षमार्ग में जाति पांति के भेद भाव को तथा ऊँच नीच की भावनाओं को आपने अपने बोलों में कहीं स्थान नहीं दिया है, प्रत्युत १६ वीं सदी के सन्तों के समान आपने भी इन भेदभावों की भर्त्सना ही की है—

संमिक्त संजुत्त पात्रस्य, ते उत्तमं सदा बुधे ।
हीन संमिक्त कुलीनस्य, अकुली अपात्र उच्यते ॥

सम्यक्त्व निधि का पात्र, यदि चांडाल का भी लाल है ।
तो वह नहीं है नीच, वह भूदेव है, महिपाल है ॥
सम्यक्त्व-निधि से रहित, यदि एक उच्च, श्रेष्ठ कुलीन है ।
तो वह महान दरिद्र है, उससा न कोई हीन है ॥

इस तरह यह पूरा ग्रन्थ क्रान्तिकारक विचारों से भरा हुआ है। आचार विचार के शास्त्रों से इसमें शुष्कता नहीं, प्रत्युत विचारों में नवीनता होने के कारण पढ़ने वालों की गति इसमें कहीं रुकती नहीं और जब स्वामी जी "यह आत्मा ही परमात्मा है" का नारा लगाते हैं तब तो विचारवान् पाठकों की गति में जैसे बिजली का संचार हो जाता है—

परमानन्द सं दिष्टा, मुक्ति स्थानेषु तिस्टते ।
सो अहं देह मध्येषु, सर्वन्यं सास्वतं धुवं ॥

सिद्ध प्रभो हैं सिद्ध भवन में, परमानंद मगन हैं ।
समकित समता सुरसरिता मय, उनके युग्म नयन हैं ॥
मैं भी तो हूँ सिद्ध, कि मेरा अंतर सुख–सागर है ।
मैं ध्रुव, मैं सर्वज्ञ, देह–देवल मेरा आगर है ॥

और—

दर्शन न्यान संजुक्तं, चरनं वीर्ज अनंतयं ।
मय मूर्ति न्यान सं सुद्धं, देह–देवलि तिस्टते ॥

अमित ज्ञान दर्शन के धारी, अमित शक्ति के सागर ।
वीतराग, निस्सीम, निराकुल, पुण्य आचरण आगर ॥
ज्ञानमूर्ति, निर्मूर्त, निरन्तर, घट घट मय अविनाशी ।
ऐसे श्री जिन, मेरे तन के देवालय के वासी ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ का आचार खंड पांच भागों में और विचार खंड तीन भागों में बंटा हुआ है, जो आद्योपान्त पठनीय है ।

इस ग्रन्थ का 'आचार' खंड पहिले सर्वधर्म समन्वय की दृष्टि को लेकर गीता, महाभारत, बाइबिल, कुरान आदि के उद्धरण सहित निकलने वाला था और "तारणतरण साहित्य सदन" जबलपुर के अन्तर्गत उसकी पूर्ण तैयारियां भी हो चुकी थीं, किन्तु किन्हीं कारणोंवश वह प्रयास पुस्तकाकार न हो सका और अब विचार खंड के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ आपके सम्मुख उपस्थित है ।

जैन समाज के अद्वितीय विद्वान् डॉ० हीरालाल जैन ने 'तारण त्रिवेणी' की भांति फिर इस ग्रन्थ के लिये अपनी प्रस्तावना लिखी है। यह उनका मुझ अकिंचन पर अनुराग ही है, जिसके लिये मैं सिवा 'धन्यवाद' के उन्हें और क्या दे सकता हूँ !

तीर्थभक्त समाज भूषण सेठ श्री भगवानदास जी शोभालाल जी सागर वालों ने इस ग्रन्थ को मुद्रित कराया है । समाज को तो उनसे ज्ञान–दान मिला ही है, मेरे उत्साह में भी इससे काफी चेतना आ गई है, अतः उन्हें भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

अन्त में मैं इस युग के गुरुदेव के अनन्य शिष्य, धर्मदिवाकर पूज्य ब्रह्मचारी गुलाबचन्द जी महाराज को जो कि मानवता के बीच आज भी श्रीगुरु की क्रान्ति का वही बिगुल फूंक रहे हैं और गुरुदेव के साहित्य को नया रूप देने में दिनरात एक कर रहे हैं, इस ग्रन्थ का सम्पादन करने तथा उसे सैद्धांतिक दृष्टि से पूर्ण बनाने के नाते, धन्यवाद देकर आप लोगों से विदा लेता हूँ ।

शरीर क्षणभंगुर है, किन्तु यदि यह बना रहा तो गुरुदेव के अन्यान्य ग्रन्थ लेकर शीघ्र ही आपके सम्मुख उपस्थित होऊँगा ।

ललितपुर
२२-११-५७

—अमृतलाल चंचल ।



तारण समाज भूषण, धर्मदिवाकर

श्री ब्रह्मचारी गुलाबचन्द्र जी महाराज

सम्यक् आचार : सम्यक् विचार

अनुक्रमणिका

सम्यक् आचार

प्रथम खंड

द्वितीय खंड

तृतीय खंड

चतुर्थ खंड

पंचम खंड

अनुक्रमणिका

सम्यक् विचार



— श्री समाजभूषण जी सागर के पिता जी —

स्व० श्री पूरनचन्द जी



— श्री समाजभूषण जी सागर के ज्येष्ठ भ्राता —

स्व० श्री मोहनलाल जी

सम्यक् आचार : सम्यक् विचार



सम्यक् आचार

वन्दनायें



श्री तारणस्वामी—

सम्यक् आचार



वन्दनायें

ओम्

देव देवं नमस्कृतं, लोकालोकप्रकासकम् ।
त्रिलोकं भुवनार्थं ज्योति, उवंकारं च विन्दते ॥१॥

जिस ज्योतिर्मय का आराधन, करते त्रिभुवनपति अरहंत ।
लोकालोक प्रकाशित करता, जो बिखेर रवि-रश्मि अनंत ॥
द्रव्य-राशि को हस्तमलकवत्, करता जो नित व्यक्त ललाम ।
उस पुनीततम महा ओम् को, करता हूँ मैं प्रथम प्रणाम ॥

जो, तीन लोक के नाथ, कर्मों के विजेता श्री अरहंत प्रभु द्वारा आराधन किये जाने योग्य है; लोक और अलोक दोनों का जो प्रकाशक है; तीनों लोक में फैली हुई द्रव्यराशि का जो समीचीन दर्शन कराता है, ऐसे उस ज्योति के पुंज महा पुनीत ओम् को मैं सर्व प्रथम प्रणाम करता हूँ ।

ओम् ह्रीं श्रीं

उवं ह्रियं श्रियं चिंते, शुद्ध सद्भाव पूरितम् ।
संपूर्नं सुयं रूपं, रूपातीत बिंद संजुत्तम् ॥२॥

शुद्ध, श्रेष्ठ सद्भाव-पुंज ही, जिस पद का कंचन-धन है।
निराकार निष्कल निमूर्त, शुचि शून्ययुक्त जिसका तन है॥
स्वयं-शुद्ध श्रुतज्ञान तत्व का, जो असीम भण्डार महान।
उस विशुद्ध ओम् ह्रीं श्रीं का, करता हूँ मैं प्रतिपल ध्यान॥

जो शुद्ध सत्तात्मक सद्भावों से परिपूर्ण है, जो स्वयं शुद्ध है, सम्पूर्ण श्रुतियों के ज्ञान जिसमें अपना अस्तित्व छिपाये हुये हैं; जो निराकार, निर्मूर्त या शून्यमय है, ऐसे उस विशुद्ध ओम् ह्रीं श्रीं का मैं निरंतर चिन्तवन करता हूँ।



पंच परमेष्टी

नमामि सततं भक्तं, अनादि आदि सुद्धये।
प्रतिपूर्नं ति अर्थं सुद्धं, पंचदीप्ति नमामिहं ॥३॥

आदि अनादि मलों से मैं भी, हो जाऊं तुम-सा स्वाधीन।
इसी सिद्धि को छूने को मैं, होता हूँ तुममें तल्लीन॥
पंच दीप्ति ! सम्यक्त्व-सूर्य तुम, मैं हूँ क्षुद्र अनल का कण।
मुझको भी अनुरूप बनालो, हे परिपूर्ण, तुम्हें वन्दन॥

आत्मा के साथ बंधे हुए, आदि और अनादि कर्मों से मैं उनकी ही तरह मुक्त हो जाऊँ; छूट जाऊँ और सब तरह से शुद्ध हो जाऊँ, इसी सिद्धि को प्राप्त करने के लिये मैं उन पंचविभूतियों को, जो कर्मों के विजेता अरहंत, आवागमन से रहित सिद्ध, शिक्षा और दीक्षा के दाता आचार्य, पठन पाठन के विशेषज्ञ उपाध्याय और आत्मा का परमात्मा से संयोग कराने वाले साधु के नाम से संसार में विख्यात हैं, प्रणाम करता हूँ।

अरहन्त

परमिस्टी परंजोति, आचरनं नंत चतुस्टयं ।
न्यानं पंच मयं सुद्धं, देव देवं नमामिहं ॥४॥

त्रिभुवन के जो तिलक कहा कर, शोभा देते हैं छबिमान ।
भवन अनन्त चतुष्टय के जो, केवलज्ञान निधान महान ॥
ऐसे उन देवाधिदेव की, रज मस्तक पर धरता हूँ ।
परं ज्योति अरहंत प्रभो को, नमस्कार मैं करता हूँ ॥

जो पंच प्रभुओं की कोटि में आने वाले सर्वोत्कृष्ट इष्ट देव हैं; अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, और अनन्त शक्ति इन चार अनन्त सम्पदाओं के जो निकेतन हैं; केवलज्ञान के जो स्वामी हैं; ऐसे उन परम ज्योति त्रिभुवन--तिलक श्री अरहंत प्रभो को मैं नमस्कार करता हूँ।



सिद्ध

अनंत दर्सनं न्यानं, वीर्ज नंत अमूर्तयं ।
विस्व लोकं सुयं रूप, नमामिहं धुव सास्वतं ॥५॥

जो अनन्त दर्शन के धारी, ज्ञान वीर्य के पारावार ।
निखिल विश्व जिनके नयनों में, श्रुत-समुद्र के जो आगार ॥
निराकार, निमूर्ति, जगत्रय करता जिनका गुणवादन ।
मुक्ति-रमावर उन सिद्धों को, करता हूँ मैं अभिवादन ॥

जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति इन चार चतुष्टयों के अधिनायक हैं ; जो निमूर्त हैं; अशरीरी हैं ; लोक और अलोक के पदार्थों को जो हाथ में रखे हुए आमले के समान देखते हैं; श्रुतज्ञान की जो साक्षात प्रतिमूर्ति हैं, ऐसे उन ध्रुव और निश्चल पद में निवास करने वाले, मुक्ति--कामिनी कंत श्री सिद्ध प्रभु को मैं अभिवादन करता हूँ।

भगवान महावीर

नमस्कृतं महावीरं, केवलं दिस्टि दिस्टितं।
विक्त रूपं अरू पंच, सिद्ध सिद्धं नमामिहं ॥६॥

जिनके केवल-ज्ञान-मुकर में, युगपत् दिखते तीनों लोक।
कर्मों का आवरण हटा जो, शरच्चन्द्र से बने निशोक ॥
सम्यक्‌विधि से व्यक्त किन्तु जो, अशरीरी, अव्यक्त अरुप।
नमस्कार करता मैं उनको, स्वीकृत करें वीर चिद्रूप ॥

जिनके केवल ज्ञान रूपी दर्पण में तीनों लोक युगपत् दिखाई देते हैं; जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों हैं, ऐसे उन विशुद्ध सिद्ध प्राप्त करने वाले, भगवान महावीर को मैं नमस्कार करता हूँ।



धर्म के तीन पात्र

केवली नंत रूपी च, सिद्ध–चक्र नमामिहं।
बोच्छामि त्रिविधं पात्रं, केवलि–दिस्टि जिनागमं ॥७॥

सिद्ध-शिला जगमगा रहे हैं कोटि कोटि जो कवल धाम !
उस पुनीततम सिद्धशशि को, मेरे सविनय कोटि प्रणाम ॥
तीन तरह के धर्म मात्र हैं, देव, शास्त्र,गुरु सौख्य सदन।
उनकी भी मैं पूर्ण भक्ति से, करता हूँ इस क्षण वन्दन ॥

मैं उन अनन्त सिद्धों के समूह को भी नमस्कार करता हूँ, जो सिद्ध शिला पर प्रकाश की अपूर्व छटा छिटका रहे हैं। धर्म के पात्र तीन हैं (१) केवल ज्ञान के आधार, केवली (२) सर्वज्ञ के वचन, जिनवाणी (३) सर्व परिग्रह से रहित–निर्ग्रन्थ साधु; इनको वन्दन कर मैं अब इनका विश्लेषण करूँगा।

गुरु

साधुओ साधु लोकेन ग्रंथ चेल विमुक्तयं ।
रत्नत्रयं मयं सुद्धं, लोकालोकेन लोकितं ॥८॥

परिग्रहों की दलदल से जो, दूर दूरतम रहते हैं ।
एक सूत्र के अम्बर को भी, आडम्बर जो कहते हैं ॥
जिनका ज्ञान समस्त जगत में, छिटकाता रहता आलोक ।
प्रतिभासित होते रहते हैं, जिसमें नित प्रति लोकालोक ॥

निर्ग्रंथ साधु जो सूत्र के एक धागे को भी आडम्बर मानते व कहते हैं तथा परिग्रह रूपी कीचड़ से अत्यन्त दूर अथवा विरक्त रहते हैं, जिनका मंजा हुआ अनुभवपूर्ण ज्ञान संसार को प्रकाश प्रदान करता है, इतना ही नहीं, उनके अपने अन्तस्तल में भी लोकालोक का (वस्तुरूप का) प्रकाश सदैव बना रहता है।

★

गुरु

संमिक्तं सुद्ध धुवं दिस्टा, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
ध्यानं च धर्म सुकलं च, न्यानेन न्यान लंकृतं ॥९॥

रत्नत्रय से आलोकित हैं, जिनके अंतरतम के देश ।
सारभूत शुद्धात्म तत्व का, करते जो नितप्रति निर्देश ॥
धर्म-शुक्ल ध्यानों से जिनने, किया पूर्ण वश मत-गजराज ।
जिनको ज्ञायक बना, ज्ञानने पाया नव वसन्त का साज ॥

जिनके अन्तरंग के प्रदेश रत्नत्रय से सुसज्जित हैं; जो सारभूत पदार्थ आत्मतत्व का ही उपदेश संसार को देते हैं; धर्म और शुक्ल ध्यान ही जिनके चिन्तवन के विषय हैं, और अपने ज्ञान से जो ज्ञान की अलौकिक शोभा बढ़ा रहे हैं।

गुरु

आरति रौद्र परिन्याजं, मिथ्यात् त्रय न दिस्टिते ।
सुद्ध धर्म प्रकासीभूतं, गुरु त्रैलोक बंदितं ॥१०॥

आर्त रौद्र भ्रमरों को हैं जो, चंपक के से निर्मम फूल !
दर्शनमोह नष्ट कर जिनने, ध्वंस किये भव भव के शूल ॥
निज स्वरूप में दृढ़ होकर जो, करते भव भव का कंदन ।
ऐसे जगतपूज्य सद्गुरु का, करता हूँ नितप्रति वंदन ॥

आर्त और रौद्र, आत्मा की शान्ति भंग करने वाले, ये दो ध्यान, जिनके चिन्तवन में नहीं आते, तीन प्रकार के मिथ्यात्व जिनसे सर्वथा दूर हो गये हैं, और शुद्ध आत्मिक धर्म ही जिनका प्राण है, ऐसे जगत्पूज्य सद्गुरु या सत्साधु की मैं वन्दना करता हूँ ।



जिनवाणी

सरस्वती सास्वती दिस्टं, कमलासने कंठ अस्थितं ।
उवं हियं श्रियं सुद्धं, तिअर्थ प्रति पूर्णितं ॥११॥

श्री जिनेन्द्र के हृदय-कमल में, जो सम्यक् विधि से आसीन ।
दृश्यमान् होते हैं जिसमें, ओम् ह्रीं श्री नित्य नवीन ॥
द्वादशांग हो, हुई प्रस्फुटित, जिसकी श्रुतमय शुचितम धार ।
जिसके कणकण में 'कलकल' कर, बहता आत्म-तत्व का सार ॥

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी भगवान के हृदय कमल में जो किल्लोल किया करती है, जो ॐ ह्रीं श्रीं इन तीनों की आगार है और जिसमें रत्नत्रय से परिपूर्ण आत्मतत्व प्रतिपल निनाद किया करता है ।

जिनवाणी

कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया न दिस्टते ।
सर्वन्यमुष वानी च, बुद्धि प्रकास सरस्वती ॥१२॥

तीनों ही कुज्ञान रहित है, जिसकी निर्मलतम काया ।
भूल नहीं पड़ती है जिस पर, मिथ्यादर्शन की छाया ॥
श्रीजिनेन्द्र का मुख-सरसीरुह, जिसका उद्गम, तीर्थ महान् ।
गणधरादि से व्यक्त, सदा जो बहती रहती एक समान ॥

तीनों ही मिथ्याज्ञान से जो सर्वथा रहित है और जहां पर मिथ्यादर्शन की छाया भी दृष्टिगोचर नहीं होती है; जिसको स्वयं सर्वज्ञ देव ने अपने मुख से प्रस्फुटित की है और जो गणधर आदि विशिष्ट कोटि के आचार्यों द्वारा सदा प्रवाहित होती रहती है:



कुन्यानं तिमिरं पूर्नं, अंजनं न्याय भेषजं ।
केवलि दिस्टि सुभावं च; जिन कंठ सरस्वती नमः ॥१३॥

मिथ्याज्ञान-तिमिर को है जो, ज्ञानांजन उपचार महान ।
जिसके वर्ण, वर्ण में होते, दृश्यमान केवलि भगवान ॥
संशय, विपर्ययादिक-खगदल जिसे देख उड़ जाता है ।
ऐसी उस जिनवाणी मां को, यह रज शीश झुकाता है ॥

मिथ्याज्ञान रूपी अंधकार में दिव्य प्रकाश पाने के लिये, जो ज्ञान रूप अंजन महान औषध है, और जिसमें यत्र तत्र केवली भगवान का अनुभव किया हुआ ज्ञान दृष्टिगोचर होता है, उस जिनवाणी माता को मैं अभिवादन करता हूं ।

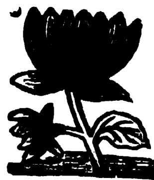
देव, गुरु, शास्त्र

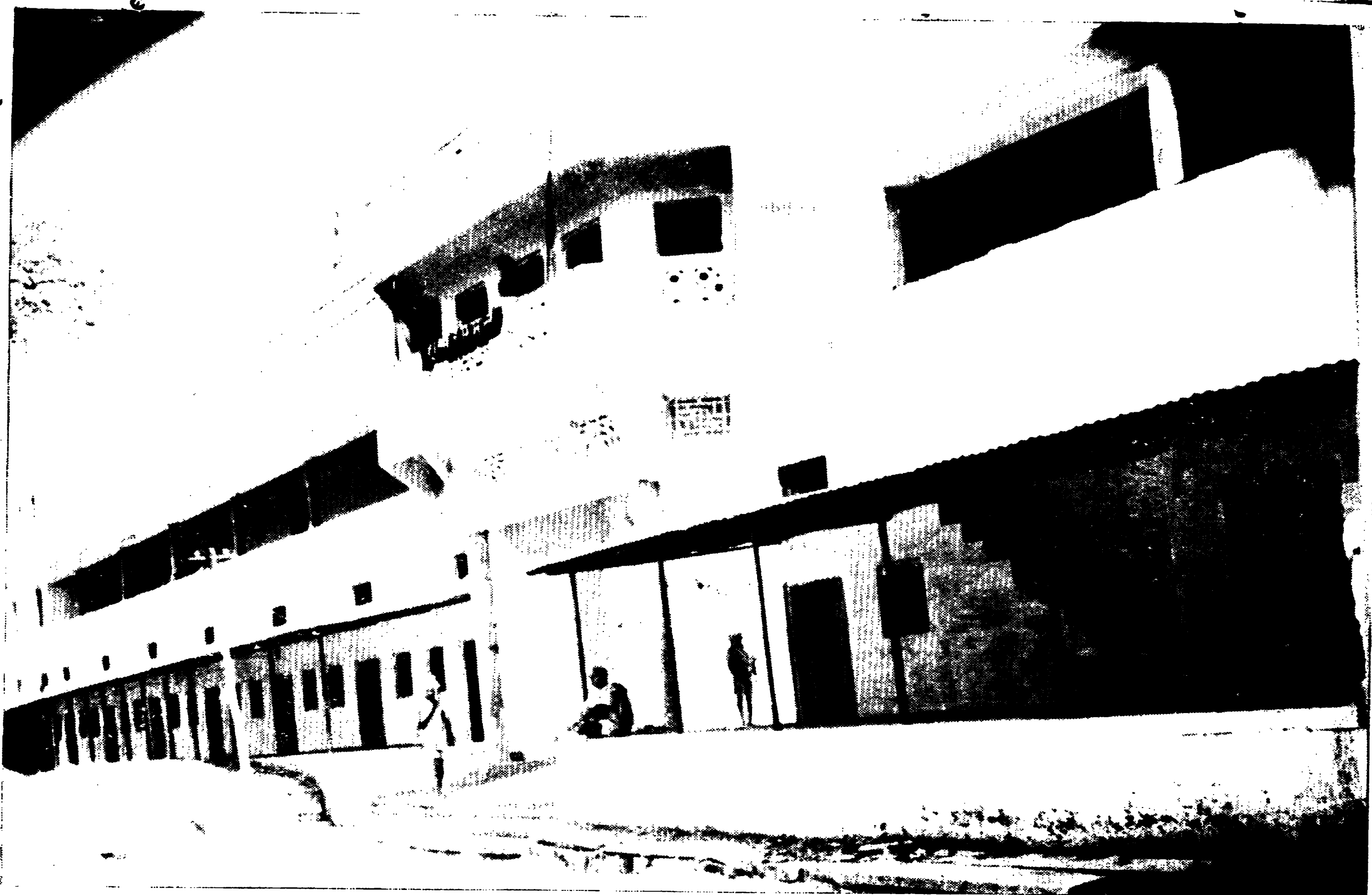
देवं गुरं श्रुतं वन्दे, न्यानेन न्यानलंकृतं।
वोच्छामि श्रावगाचारं, अविरतं संमिक दिस्टितं ॥१४॥

जिन विभूतियों के ज्ञानों से, पाता स्वयं ज्ञान शृंगार।
ऐसे देव, शास्त्र, गुरु को हो, नमस्कार नित बारम्बार ॥
अव्रत सम्यग्दृष्टीजन के, हों कैसे आचार-विचार ?
इसी विषय को ले कहता हूँ, परम पवित्र श्रावकाचार ॥

जिनके ज्ञान को पाकर स्वयं ज्ञान भी कृतकृत्य हो जाता है, ऐसे उन मोक्ष-पथ के आधार, सतदेव, सद्गुरु और सत्शास्त्र को मेरे कोटि कोटि प्रणाम हों।

अव्रत सम्यग्दृष्टि के कैसे आचार विचार हों, इस दृष्टि को प्रमुख स्थान देकर, मैं अब इस श्रावकाचार का कथन प्रारम्भ करूँगा।





तीर्थक्षेत्र श्री निसई जी का नवनिर्मित स्वाध्याय-भवन

[जिसका समाजभूषण सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी ने निर्माण कराया है]

संसार : और वह कैसे मिटे ?

(प्रथम खण्ड)

संसार :
और वह कैसे मिटे ?

[१५ से ४६ तक]



"इष्टार्थोद्यदना (त्रा) प्त तद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर-
न्नानामान स दुःखवाड़वशिखा संदीपिताभ्यन्तरे।
मृत्युत्पत्तिजरातरंगचपले संसारघोरार्णवे,
मोहग्राहविदारितास्य विवराद्दूरे चरा दुर्लभाः ॥"

यह संसार एक समुद्र के समान है ! किस तरह ? इष्ट विषयों से उत्पन्न हुआ सांसारिक सुख ही इस समुद्र का खारा जल है, जिसके पीने से कभी भी प्यास का अंत नहीं होता। नाना प्रकार के मानसिक दुःखों का समूह ही इस समुद्र के बीच उठने वाला बड़वानल है, जो इसके बीच हिलोरें लेने वाले सुख-रूपी जल को नित्य प्रति तप्तायमान करता रहता है, और जन्म, मरण तथा जरा—ये ही इस समुद्र की तरंगें हैं, जो इस समुद्र के जल को नित्यप्रति अस्थिर और चपल बनाया करतीं हैं। ऐसे संसार-रूपी भयानक समुद्र के बीच में बसने वाले मोह रूपी मगर से जो पुरुष बचते हैं उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है।

— आचार्य गुणभद्र।



संसार : और वह कैसे मिटे ?



संसार, शरीर और भोग

संसार

संसारे भय दुष्यानि, वैराग्यं जेन चिंतये ।
अनृतं असत्यं जानंते, असरनं दुष भाजनं ॥१५॥

यह संसार अगम अटवी है, इसमें भय ही भय है ।
सुख का इसमें अंश नहीं है, हां दुख है; अक्षय है ॥
जग असत्य, जग जड़, जग मिथ्या, जग में शरण नहीं है ।
दुखभाजन जग से विरक्त हो, जग में सार यही है ॥

यह संसार भय और दुःखों से भरी हुई एक विशाल अटवी है । इसको मिथ्या, जड़ और अवास्तविक समझना चाहिये । इस दुःखभाजन संसार में प्राणिमात्र के लिये कोई शरण नहीं है, अतः सार यही है कि मनुष्य इस संसार से सदा विरक्त होने की भावना का ही चिंतवन करे ।

शरीर

असत्यं असास्वतं दिस्टा, संसारे दुष भीरुहं।
सरीरं अनित्यं दिस्टा, असुच अमेवं पूरितं ॥१६॥

यह संसार अनित्य, नित्य की इसमें रेख नहीं है।
दुख ही दुख, सुख इसमें मिलता ढूँढ़े से न कहीं है॥
तन भी क्या है ? रे, क्षणभंगुर, पल भर में मिट जाये।
उन मल मूत्रों का घर, जिनका नाम लिये घिन आये॥

यह संसार असत्य है; अनित्य है और अगणित दुःखों से भरा हुआ है; सुख का तो इसमें चिह्न भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह शरीर भी, जिस पर हम सबको इतना गौरव है, क्या है ? एक क्षण-भंगुर, धूल का पुतला और ऐसी ऐसी मलिन वस्तुओं का भंडार, कि जिनका नाम लेने मात्र से घृणा आती है।



भोग

भोगं दुषं अती दुस्टं, अनर्थं अर्थ लोपितं।
संसारे स्रवते जीवा, दारुनं दुष भाजनं ॥१७॥

पंचेंद्रिय के भोग न सुखकर, वे अति दुखकर भाई।
अनहित कर हरते जीवों की, वे सब धर्म-कमाई॥
भव-जल में बहने वाले जो, शरण यहां लेते हैं।
वे मानों जलती होली में, बलि अपना देते हैं॥

पंचेन्द्रियों के भोग दुःखों के मूल कारण हैं। ये स्वभाव से ही दुष्ट हैं। ये खल आत्मा को अपने स्वभाव से विस्मृत कर, अपने पथ पर ले जाते हैं और इस तरह आत्मा का भारी अहित करते हैं। इन भोगोंमें फँसकर, प्राणी भयंकर से भयंकर दुःख उठाता और चारों गतियों में ठोकरें खाता फिरता है।

तीन मिथ्यात्व—

अनादि भ्रमते जीवा, संसार सरन रंजितं।
मिथ्यात त्रय संपूर्न, संमिक्तं सुद्ध लोपनं ॥१८॥

त्रय मिथ्यात्व महा दुखदाई, जन्म-मरण के प्याले।
व्यक्त नहीं होने देते ये, दर्शन-गुण मतवाले॥
इन तीनों मिथ्यात्व मोह की, डाल गले में फांसी।
बनता रहता है अनादि से, यह नर भव भव वासी॥

मिथ्यात्व शुद्ध सम्यग्दर्शन का लोप करने वाला होता है। यह मिथ्यात्व तीन प्रकार का होता है। इसी मिथ्यात्व या मिथ्याज्ञान के वशीभूत होकर यह प्राणी इस सार रहित संसार में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है और करता रहेगा।



मिथ्या देवं गुरं धर्मं, मिथ्या माया विमोहितं।
अनृत अचेत रागं च, संसारे भ्रमनं सदा ॥१९॥

मिथ्या देवों को यह मानव, अपने देव बनाता।
नित्य अदेवों के ढिंग जाकर, उनको शीश झुकाता॥
मिथ्या माया में फंसकर यह, बनता अनृत पुजारी।
और इसीसे भव भव फिर यह, बनता दुर्गतिधारी॥

संसार में आवागमन क्यों होता रहता है? मिथ्यात्व और मायाचार से लिपटे हुए तथा असत्य और अचेत देव, गुरु और धर्म, इन तीनों की उपासना करने से! मिथ्यादेव, मिथ्याधर्म और मिथ्या गुरु, बस ये तीनों ही संसार-भ्रमण के प्रमुख कारण होते हैं।

अनृतं विनासी चिंते, असत्यं उत्साहं कृतं ।
अन्यानी मिथ्या सद्भावं, सुद्ध बुद्ध न चिंतए ॥२०॥

अनृत वस्तुओं के चिन्तन से, मार्ग असत् बढ़ता है ।
इस पथ को अनुगामी नितप्रति, मिथ्यापथ चढ़ता है ॥
यह मिथ्यात्व जमा लेता है, जिसके उर में डेरा ।
शुद्ध बुद्ध प्रभु का न वहां फिर, रहता नेक बसेरा ॥

मिथ्या वस्तुओं के चिन्तवन से मिथ्या कार्यों के करने में उत्साह बढ़ता रहता है। जो इन मिथ्या वस्तुओं का चिंतवन करते करते अज्ञान मिथ्यादृष्टि हो जाता है, वह फिर इस योग्य नहीं रहता कि वह अपनी आत्मा का, जो शुद्ध बुद्ध प्रभु का पवित्र निवास-स्थान है, चिंतवन कर सके। दूसरे शब्दों में, शुद्ध बुद्ध प्रभु, उस मिथ्यादृष्टि के हृदय से कूच कर देते हैं।

मिथ्या दर्सनं न्यानं, चरनं मिथ्या उच्यते ।
अनृतं राग सपूर्नं, संसारे दुष वीर्जयं ॥२१॥

मिथ्यादर्शन, ज्ञान, आचरण, ये हैं तीन पनाले ।
जिनमें बहते रहते हैं नित, राग अशुभ मतवाले ॥
ये तीनों दुख-बीज मनुज को, दारुण दुख दिखलाते ।
अशुभ कर्म से बाँध उसे ये, नट-सा नाच नचाते ॥

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण ये तीनों, मिथ्यात्व रागों से परिपूर्ण हैं और इसलिये अनंत दुःखों के दाता हैं। इनके कारण ही प्राणी अनेकानेक अशुभ कर्मों को बांध कर, इस भयानक संसार-अटवी में परिभ्रमण किया करता है।

मिथ्या संयम हृदयं चिंते, मिथ्या तप ग्रहनं सदा।
अनंतानंत संसारे, भ्रमते अनादि कालयं ॥२२॥

ख्याति, लाभ, यश की इच्छा से, संयम पालन करना ।
स्वर्गादिक मिल जायें इससे, द्वादश तप आचरना ॥
ऐसे मिथ्या संयम या तप, बस संसार बढ़ाते ।
जीवों को इस भव से उस भव, मर्कट-तुल्य नचाते ॥

मिथ्या संयम—इस कामना को लेकर संयम पालना कि मुझे संसार में कुछ ख्याति या लाभ मिल जावे और मिथ्या तप—इस इच्छा को लेकर तप करना कि मुझे वैकुंठ या स्वर्ग प्राप्त हो जावे, ये दोनों ही अनंतानंत संसार परिभ्रमण के कारण होते हैं। इन दोनों के चक्कर में पड़कर प्राणी अनादिकाल से आवागमन के पाश में बँधे चले आ रहे हैं।



चार कषायें



मिथ्यातं दुस्ट संगेन, कसायं रमते सदा ।
लोभं क्रोधं मयं मानं, गृहितं अनंत बंधनं ॥२३॥

मिथ्यादर्शन-बैरी की कर, संगति अति दुखदाई ।
लोभ, मान, माया व क्रोध की, करता जीव कमाई ॥
ये कषाय वे, जिनके कर में जन्म मरण का प्याला ।
जिसमें नित जलती रहती है, धू धू विष की ज्वाला ॥

जो प्राणी मिथ्यादर्शन या विपरीत श्रद्धान करने लगता है, वह क्रोध, मान, माया व लोभ इन चार कषायों के चंगुल में फँस ही जाता है। ये कषायें वे होती हैं जो बंध की परम्परा को दीर्घकाल तक खींचकर ले जाती रहती हैं या दूसरे शब्दों में, जिनके हाथों में जन्म-मरण का सूत्र रहता है और जो संसार को अनंतानंत समय तक जन्म-मरण के बंधनों में डालती रहती हैं।

लोभ

लोभ कृत असत्यस्या, असास्वतं दिस्टत सदा।
अनृतं कृतं आनंदं, अधर्म संसार भाजनं ॥२४॥

लोभी को दिखता है शाश्वत, मेरी है यह काया ।
शाश्वत कंचन, शाश्वत कामिनि, शाश्वत मेरी माया ॥
वह इस ही मिथ्या प्रवृत्ति में, नित आनन्द मनाता ।
किन्तु लोभ है मूल पाप का, पाप न इससा भ्राता !

जो लोभी जीव होता है, उसे संसार की प्रत्येक वस्तुओं में नित्यता के दर्शन होते हैं। जो कार्य मिथ्यात्व से पूर्ण होते हैं, उनके करने में ही वह आनंद मानता रहता है, किन्तु हे भाई ! लोभ अधर्म है: निस्सार है और इसके समान कोई दूसरा पाप नहीं है !



क्रोध

कोहाग्नि प्रजुलते जीवा, मिथ्यातं घृत तेलयं।
कोहाग्नि प्रकोपनं कृत्वा, धर्मरतं च दग्धये ॥२५॥

मानव के उर में जलती जब, दुष्ट क्रोध की होली ।
तेल और घृत बनती उसमें, कुज्ञानों की टोली ॥
होता है क्या ? जन्म जन्म से संचित प्राणों प्यारा ।
धर्मरत्न उस पावक में जल, हो जाता चिर न्यारा ॥

जिस समय मनुष्य के हृदय में क्रोध रूपी अग्नि जलती है, उस समय यह मिथ्याज्ञान या मिथ्यात्व उसमें तेल और घी का काम करता है। होता यह है कि मनुष्य का संचित किया हुआ धर्म रूपी रत्न इस क्रोध रूपी अग्नि में गिर पड़ता है और जलकर स्वाहा हो जाता है।

मान

मानं अनृतं रागं, माया विनासी दिस्टते ।
असास्वतं भाव बृद्धन्ते, अधर्मं नरयं पतं ॥२६॥

कैसा मान करे मन मूरख, किसका मान रहा है ?
और सोच माया कर किसने, कितना दुःख सहा है ?
मान और माया पर यदि तू, चढ़ता ही जायेगा ।
तो अधर्म-भाजन बनकर तू, घोर नर्क पायेगा ॥

जब यह स्पष्ट दिखता है कि संसार की माया विनाश में लीन होने वाली है; स्वप्न समान है; धोखे की टट्टी है, तब यह मनुष्य इस झूठे राग में पड़कर मान करता है; मायाचारी करता है ! यह मान मिथ्याभावों को वृद्धिंगत करता है; यह अधर्म है और एक न एक दिन लोभी को यह निश्चत रूप से नर्क में पटकने वाला है।



माया

जदि मिथ्या मायादि संपूर्न, लोकमूढ़ रतो सदा ।
लोकमूढ़स्य जीवस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥२७॥

मिथ्या मायादिक में रहता, रत जो मिथ्याचारी ।
लोकमूढ़ता का बन जाता, है वह परम पुजारी ॥
जिसकी गर्दन में लग जाती, इस पापिन की फांसी ।
मुक्त नहीं वह नर हो पाता, बनता भव-भव वासी ॥

जो मनुष्य मिथ्यात्व के संसर्ग से क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में लीन रहता है, वह नियम से लोकमूढ़ता का दास बन जाता है और जो इस मूढ़ता का शिकार हो गया, वह फिर नियम से संसार-सागर में गोते खाया ही करता है।

तीन मूढ़तायें

लोक मूढ़ रतो जेन, देव मूढस्य दिस्टते ।
पाषंडी मूढ़ संगानि, निगोयं पतितं पुनः ॥२८॥

लोकमूढ़ता का बन जाता, है जो जीव पुजारी ।
देवमूढ़ता भी आ करती, उसके सिर असवारी ॥
शेष नहीं पाखंडमूढ़ता, भी फिर रह पाती है ।
और कि यह त्रयराशि उसे फिर, दुर्गति दिखलाती है ॥

जो मनुष्य लोकमूढ़ता का पुजारी बन जाता है, वह देवमूढ़ता के जाल से भी नहीं बच पाता। पाखंड मूढ़ता भी जो तीसरी मूढ़ता होती है, उसको असहाय जान, आकर उसका गला दबा देती है और इस तरह तीनों मिलकर उसे निगोद में फेंक देती हैं।



सम्यक् श्रद्धान में २५ दोष

*

अन्यानं मद अस्टं च, संकादि अस्ट दूषनं ।
मलं संपूर्न जानंतं, सेवनं दुष दारुनं ॥२९॥

छह अनायतन और अष्ट मद, शंकादिक अठभाई ।
तीन मूढ़ता; ऐसे ये पच्चीस दोष दुखदाई ॥
ये कंटक सम्यक्त्व-मार्ग के, जो दारुण दुख देते ।
चौरासी लख योनि घुमाकर, प्राण जीव का लेते ॥

छह अनायतन, आठ मद, सम्यग्दर्शन के आठ दोष, और तीन मूढ़तायें ये सम्यक्त्व के २५ दोष होते हैं या यों कहिये कि मोक्षमार्ग के ये २५ रोड़े होते हैं। इनका जीवन में आचरण करना, महान दुःखों का कारण होता है।

मिथ्यात मति रतो जेन, दोसं अनंता नंतयं ।
सुद्ध दिस्टि न जानंते, असुद्धं सुद्ध लोपनं ॥३०॥

जो मिथ्यामति के सरवर में, नितप्रति करता क्रीड़ा ।
वह अनंत दोषों का भाजन, होकर सहता पीड़ा ॥
दर्शन-मणि के सपने तक में, उसको दर्श न होते ।
यत्र तत्र वह दुर्गतियों में, खाता नित प्रति गोते ॥

जो पुरुष मिथ्याज्ञान में क्रीड़ा करता है, वह अनंत दोषों का भाजन बनता रहता है । शुद्ध दृष्टि क्या वस्तु होती है, इसे वह स्वप्न तक में नहीं जान पाता है और कुज्ञान में रत रहते हुए, विकराल दुःख सहा करता है ।



वैराग्य भावनं कृत्वा, मिथ्या तिक्त त्रि भेदयं ।
कसायं तिक्त चत्वारि, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ॥३१॥

भव्यो ! यदि तुम यह चाहो, हों शुद्धदृष्टि के धारी ।
तो ध्याओ वैराग्य-भावना, सर्व प्रथम सुखकारी ॥
त्यागो त्रय मिथ्यात्व और फिर चार कषायें छोड़ो ।
शुद्धदृष्टि हो शाश्वत सुख से, फिर तुम नाता जोड़ो ॥

हे मोक्षाभिलाषी जीवो ! यदि तुम यह चाहते हो कि हमें शुद्ध दृष्टि प्राप्त हो जावे तो तुम सबसे प्रथम वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करो; तत्पश्चात् तीन मिथ्यात्वों का परित्याग करदो और इसके बाद चार कषायों से नाता तोड़कर, मोक्ष से अपना पल्ला जोड़ लो ।

मिथ्या समय मिथ्या च, समय प्रकृति मिथ्ययं ।
कसायं चत्रु अनंतानं, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ॥३२॥

सर्व प्रथम मिथ्यात्व शास्त्र में, है मिथ्यात्व कहाता ।
है द्वितीय सम्यक् तृतीय, सम्यक् प्रकृति है आता ॥
क्रोध मान माया व लोभ ये, होती चार कषायें ।
जो होते हैं शुद्धदृष्टि वे इनमें मन न रमायें ॥

(१) मिथ्यात्व (२) सम्यक् मिथ्यात्व (३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व—ये तीन मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, और अनंतानुबंधी लोभ—ये चार कषायें जो छोड़ देता है, उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है ।



मिथ्यात्व का अभाव या सम्यक्त्व का उदय



सप्त प्रकृति विच्छदो जत्र, सुद्ध दिस्टि दिस्टतं ।
श्रावकं अविरतं जेन, संसारदुष परान्मुषं ॥३३॥

सप्त प्रकृतियां अन्तस्तल से, जब विलीन हो जातीं ।
शुद्धदृष्टि की छबियाँ तब ही, अंतर में दिख पातीं ॥
शुद्धदृष्टि धारी जन ही बस, अव्रत श्रावक होता ।
सांसारिक दुख दूर बसा, जो अविरल सुख में सोता ॥

जब अंतस्तल से सप्तप्रकृतियों का या तीन मिथ्यात्व व चार कषायों का लोप हो जाता है तभी शुद्ध दृष्टि के दर्शन होते हैं । यही शुद्ध दृष्टि जीव अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावक कहलाता है जो संसार के सारे दुःखों से परे रहकर सुख और शान्ति का अनुपम अनुभव करता है ।

संमिकदिस्टिनो जीवा, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
परिनामं सुद्ध संमिक्तं, मिथ्या दिस्टि परान्मुषं ॥३४॥

शुद्धदृष्टि जन शुद्ध तत्व का, ही करता उजियाला ।
छलका करता शुद्धदृष्टि से, उसका अंतर-प्याला ॥
उसकी हर परिणतियों में, सम्यक्त्व घुला रहता है ।
मानस तज, मिथ्यात्व-कुण्ड में, हंस न वह बहता है ॥

जो सम्यग्दृष्टि पुरुष होते हैं, वे शुद्ध आत्मतत्व का ही प्रकाश करते हैं । उनके अंतरंग परिणामों में शुद्ध सम्यक्त्व ही घुला रहता है और वे मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टि पुरुषों के रंचमात्र भी संपर्क में नहीं आते ।



संमिक देव गुरं भक्तं, संमिक धर्म समाचरेत् ।
संमिक तत्व वेदंते मिथ्या त्रिविध मुक्तयं ॥३५॥

सत्य आप्त का ही करता है, शुद्धदृष्टि आराधन ।
सद्गुरु को ही करता है वह, अपने कर से वंदन ॥
सम्यक् धर्ममयी पथ पर ही, वह निज पैर बढ़ाता ।
त्रय मिथ्यात्व रहित समकित ही, वह अनुभव में लाता ॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष सतदेव और सद्गुरु की ही उपासना–भक्ति करता है और जो सत् धर्म है उसी के अनुसार वह आचरण करता है । उसके अनुभव का बस एक ही विषय होता है और वह है 'सम्यक्त्व' । जो तीन मिथ्याज्ञान होते हैं, वे उस का स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं, वह उनसे मुक्त हो जाता है ।

संमिक दसनं सुद्धं न्यानं आचरन संजुतं ।
साद्धंति-त्रि-संपूर्न, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ॥३६॥

आत्म-प्रतीति ही श्री गुरु कहते, सच्चा सम्यग्दर्शन ।
आत्म-ज्ञान ही ज्ञान, आत्म-अनुभव ही चारित है मन !
कुज्ञानों से शून्य जहां, दिखती रत्नत्रय-झांकी ।
बिछ जाती है राह वहीं पर, चिर-सुख-राशि रमा की ॥

शुद्ध आत्मा की प्रतीति का नाम ही सम्यग्दर्शन है। उसके सहित जो ज्ञान होता है, वही सम्यग्ज्ञान है और उसके सहित ही जो आचरण होता है, वही सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की, तीनों ही कुज्ञान से शून्य, एकता का नाम ही पूर्णत्व अथवा मोक्ष है।



संमिक संजमं दिस्टा, संमिक तप साद्धयं ।
परिनै प्रमानं सुद्धं, असुद्धं सर्व तिक्तयं ॥३७॥

सम्यक्दर्शनयुत संयम ही, शुचि सम्यक् संयम है ।
वह ही सम्यक् तप है जिसमें, सम्यग्दर्शन क्रम है ॥
सम्यक् संयम, सम्यक् तप का ही जब साधन होता ।
तब ही चेतन के भावों में, शुद्ध परिणमन होता ॥

सम्यग्दर्शन या आत्मप्रतीति के साथ पाला हुआ संयम ही यथार्थ संयम है और उसी के साथ तपा हुआ तप यथार्थ तप है। जब सब अशुद्ध विकारी भावों को छोड़कर उक्त प्रकार से साधना की जाती है तभी आत्मा के भावों में शुद्ध परिणमन होता है।

षटकर्म संमिक्तं सुद्धं, संमिक अर्थ सास्वतं ।
संमिक्तं सुद्ध धुवं साद्धं, संमिक्तं प्रति पूर्नितं ॥३८॥

वे ही सत षट्कर्म कि जिनमें, 'दर्शन' पद पद डोले ।
मुखरित होकर नित जिनमें से, आत्म-भावना बोले ॥
'दर्शन' युत षट् कर्म शुद्ध हैं, ध्रुव हैं, श्रद्धास्पद हैं ।
मोक्ष महल के अभिनव पथ को, ये विद्युत् के पद हैं ॥

गृहस्थ के लिये निर्धारित किये गये दैनिक षट् कर्म भी तभी शुद्ध कहे जाते हैं, जबकि उनके साथ शुद्ध सम्यक्त्व की पुट लगी हो। सम्यक् विशेषण सहित जो षट् कर्म सम्पादन किये जाते हैं वे शुद्ध होते हैं; ध्रुव होते हैं और श्रद्धास्पद होते हैं; इतना ही नहीं, पूर्णता या मोक्ष की ओर जाने वाले पदों में वे एक स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं ।



शुद्धात्मा का ध्यान

संमिक देव उपाद्यंते, राग दोष विमुक्तयं ।
अरूपं सास्वतं सुद्धं, सुयं आनंद रूपयं ॥३९॥

राग द्वेष से वंचित है जो, परंज्योति परमेश्वर ।
शुद्ध बुद्ध आनन्द अरूपी, शाश्वत स्वयं जिनेश्वर ॥
रत्नत्रय से हो जाता है, जिसका हृत्तल पावन ।
वह ऐसे शुद्धात्म-प्रभू का, ही करता आराधन ॥

जिसको शुद्ध दृष्टि प्राप्त हो जाती है वह राग द्वेष से विमुक्त, निराकार, शाश्वत, शुद्ध, स्वयंभूत, आनन्दस्वरूप जो शुद्धात्मा है, उसी परमात्मा की उपासना व वन्दना करता है ।

देव देवाधिदेवं च, नंत चतुस्टय मंजुतं ।
उर्वकारं च वेदंते, तिस्टितं सास्वतं धुवं ॥४०॥

देव और देवों का अधिपति, देवाधिप, अधिनायक ।
चार चतुष्टय शोभित होते, जिसमें नित सुखदायक ॥
प्रणव मंत्र में भी जिस प्रभु का, निर्मल वास सुहाता ।
शुद्धदृष्टि उस शुद्धातम को, ही निज शीश झुकाता ॥

जो देव और देवों का देव है; अनंत चतुष्टय से जो मण्डित है तथा स्वयं ॐकार पद में जिसका वास है, ऐसा जो शुद्धात्मा रूपी सर्वशक्तिमान परमात्मा है, शुद्धदृष्टि बस उसी का आराधन करता है।



उर्वकारस्य ऊर्धस्य, ऊर्ध सद्भाव तिस्टतं ।
उर्वं ह्रियं श्रियं वन्दे, त्रिविधि अर्थं च मंजुतं ॥४१॥

पंच परम प्रभु का जिस पद में, है अस्तित्व निराला ।
चतुर्विंशि के पुष्पराग से सुरभित जिसकी माला ॥
सुमुखि मुक्ति जिस पर, बिखराती है अपनी फुलवारी ।
शुद्ध दृष्टि उस ओम् मंत्र के, होते पूर्ण पुजारी ॥

जो शुद्ध दृष्टि के धारी होते हैं, वे ऊर्ध्व स्वभावधारी, शुद्ध सत्तात्मक भावों के निधान उस ओंकार का ही वंदन करते हैं, जो पंच परमेष्ठी, चतुर्विंश तीर्थंकर और मुक्ति रूपी लक्ष्मी का एक साथ एकमात्र निवासस्थान है ।

सोऽहं की अर्चना

देवं च न्यान रूपेन, परमिस्टी च संजुतं ।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानंति स पंडिता ॥४२॥

पंच परम जिन परमेश्वर हैं, मोक्ष महल के वासी ।
अगम, अगोचर, अलख, अवाधित, अजर अमर अविनासी ॥
मैं भी जिन हूँ, इस काया के भीतर मेरा घर है ।
जो जाने यह मर्म वही नर, पंडित प्रज्ञाधर है ॥

पंच परम प्रभुओं के सहित जो कोई परमात्मा है, वह मैं ही अपने इस देह रूपी देवल के भीतर हूं। जो मानव इस मर्म को जानता है वही सम्यग्दृष्टी जीव प्रज्ञाधर या पंडित है।



कर्म अस्ट विनिमुक्तं, मुक्ति स्थाने तिस्टते ।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानंति स पंडिता ॥४३॥

वसु मल क्षय कर जोती जिनने, जन्म मरण की पीड़ा ।
सिद्ध क्षेत्र में करते ऐसे, सिद्ध जिनेश्वर क्रीड़ा ॥
मैं भी तो हूँ सिद्ध प्रभो, यह तन मेरा मन्दिर है ।
जो जाने यह मर्म वही नर, पंडित प्रज्ञाधर है ॥

सिद्ध या जो महापुरुष कृतकृत्य हो चुके हैं, उनकी महत्ता यही है कि वे आठ कर्मों की बेड़ियों को काट चुके हैं और मुक्ति स्थल में रहते हैं। मैं भी सिद्ध हूँ। अंतर इतना ही है कि सिद्धशिला के स्थान पर मेरा घर मेरे हृदय रूपी मंदिर में ही है। जो इस महत्वपूर्ण तथ्य को जानता है वही वास्तविक पण्डित है।

परमानंद मं दिस्टा, मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते ।
सो अहं देह मध्येषु, सर्वन्यं सास्वतं ध्रुवं ॥४४॥

सिद्ध प्रभो हैं सिद्ध भवन में, परमानन्द मगन हैं ।
समकित-समता-सुरसरिता मय, उनके युग्म नयन हैं ॥
मैं भी तो हूँ सिद्ध कि मेरा, अंतर सुखसागर है ।
मैं ध्रुव, मैं सर्वज्ञ, देह-देवल मेरा आगर है ॥

परम आनन्द के नन्दननिकुंज में विहार करने वाले जो सिद्ध भगवान हैं, वे मोक्षपुरी में वास करते हैं; वे सर्वज्ञ हैं, शाश्वत हैं, ध्रुव हैं। मैं भी इन समस्त दिव्य गुणों से विभूषित हूँ। अंतर इतना ही है कि सिद्ध भगवान मुक्तिनगर के वासी हैं और मेरा मंदिर अपने देह-देवल में ही है।



दर्सन न्यान संजुक्तं, चरनं वीर्ज अनन्तयं ।
मय मूर्ति न्यान मं सुद्धं, देह देवलि तिस्टिते ॥४५॥

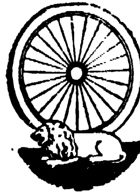
अमित ज्ञान दर्शन के धारी, अमित शक्ति के सागर ।
वीतराग निस्सीम निराकुल, पुण्य आचरण-आगर ॥
ज्ञानमूर्ति, निमूर्त, निरन्तर घट घट मय अविनाशी ।
ऐसे श्री जिन मेरे तन के, देवालय के वासी ॥

जो परमात्मा अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान के सहित अनन्त शक्ति और वीतराग चारित्र को धारण करने वाले हैं; जो निर्मूर्त और परम पवित्र ज्ञान के भण्डार हैं, वे किसी दूसरी जगह नहीं बसते, उनका मन्दिर मेरे इस देह-देवल में ही है।

अरिहंत देव तिस्टंते, ह्रींकारेन सास्वतं ।
उवं ऊर्ध सद्भावं, निर्वानं सास्वतं पदं ॥४६॥

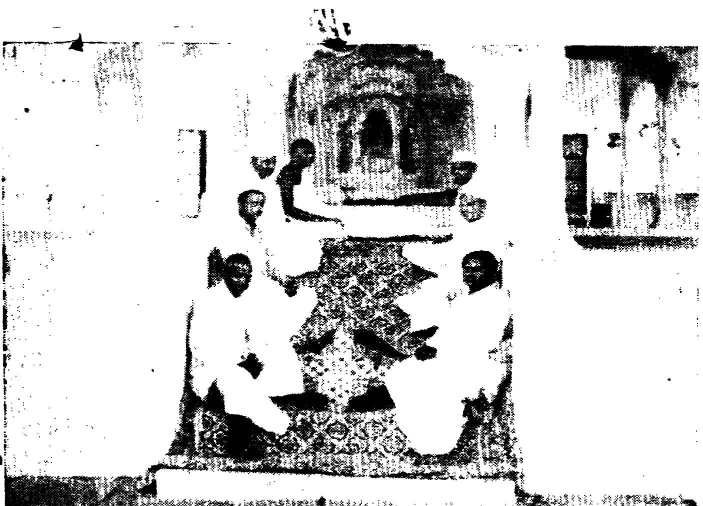
ह्रीं मंत्र पद में बसते हैं, चार चतुष्टय धारी ।
चतुर्विंश तीर्थंकर निष्कल, श्री अरहन्त सुखारी ॥
ॐ मंत्र में विचरण करते, सिद्ध शिला के नायक ।
श्रेष्ठ, ऊर्ध्व, वसु कर्म विजेता, अग जग घट घट ज्ञायक ॥

ह्रीं मंत्र पद में, कर्मों के विजेता अरहन्त भगवान, चौबीस तीर्थंकरों सहित शोभायमान हैं और ओम् में वे सिद्ध भगवान वास करते हैं, जो निश्चल ध्रुव निर्वाण पद के वासी हैं।

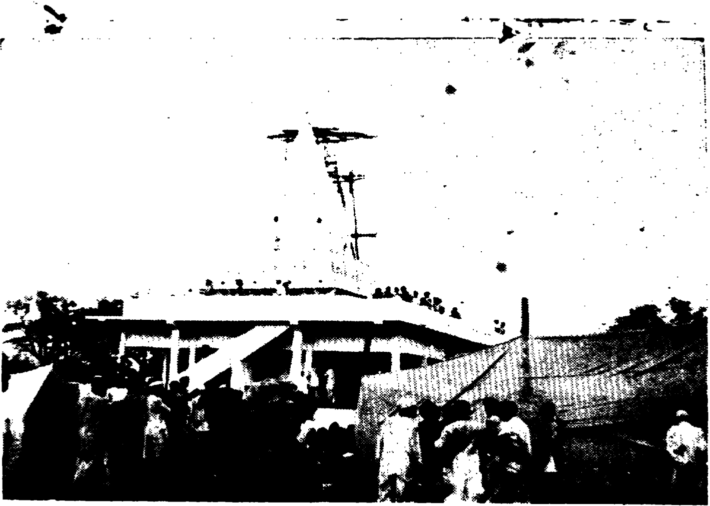


आत्मा के तीन रूप;
उनके लक्षण और कार्य

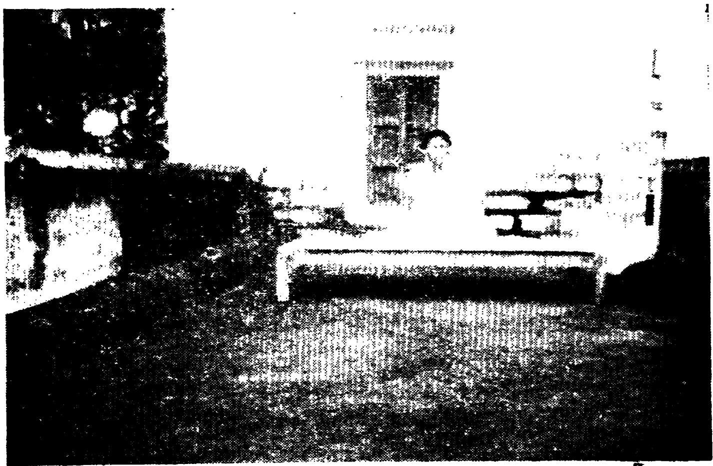
(द्वितीय खण्ड)



पूज्य ब्र० जी, सेठ भगवानदास शोभालाल जी, चंचल जी आदि सेमरखेड़ी में



[तीर्थक्षेत्र श्री सूखा निसई जी के मेले के समय का एक दृश्य]



[बाल ब्र० श्री विमलादेवी जी साहित्यरत्न, शास्त्री—निसई जी क्षेत्र में]



[पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी महाराज सागर के तारण जयन्ती मेले में ।

आत्मा के तीन रूप;
उनके लक्षण और कार्य

[४७ से १९४ तक]



"........आत्मा और परमात्मा की वस्तुतः एक ही सत्ता है। 'माया' के कारण ही परमात्मा में नाम, अद्वैतवाद और रूप का अस्तित्व है। इस माया से छुटकारा पाना ही मानों आत्मा और परमात्मा की फिर एक बार एक ही सत्ता स्थापित करना है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं, जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन पर माया नष्ट हो जाती है, तब दोनों भागों का पुनः एकीकरण हो जाता है। कबीर सा० इसी बात को इस प्रकार लिखते हैं :—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथहु गियानी॥



—डा. रामकुमार वर्मा
(कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ८)

आत्मा के तीन रूप; उनके लक्षण और कार्य



आत्मा के तीन रूप



आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च, परु अंतरु वहिरप्पयं।
परिणामं जं च तिस्टंते, तस्यास्ति गुण संजुतं ॥४७॥

श्री जैन आगम में मधुर स्वर, से कहें परमात्मा।
पर्यायनय की दृष्टि से, भव्यो! त्रिविध है आत्मा॥
'परमात्मा' उत्तम है, मध्यम है कि 'अन्तर आतमा'।
निकृष्ट है जो आतमा, वह आत्मा 'बहिरात्मा'॥

संयोगप्राप्त कर्मों के निमित्त से आत्मा की जो भिन्न भिन्न अवस्थाएं होती हैं, उस दृष्टि से आत्मा तीन प्रकार की होती है (१) परमात्मा (२) अंतरात्मा (३) बहिरात्मा। ये सब अवस्थायें अपने अपने गुणों के अनुसार होती हैं।

परमात्मा

आत्मा परमात्मा तुल्यं च, विकल्पं चित्त न क्रीयते ।
सुद्ध भाव अस्थिरी भूतं, आत्मानं परमात्मनं ॥४८॥

जिसमें विकल्प विभेद की, लहरें कभी उठती नहीं ।
जिसमें नयादि विचार की, पड़ती नहीं भँवरें कहीं ॥
वह ही सुदृढ़ परमात्मा, परमात्मा अभिराम है ।
यह आत्मा है क्षुद्र सर परमात्मा जल-धाम है ॥

आत्मा और परमात्मा वास्तव में समान अर्थी हैं। भेद केवल इतना ही है कि साधारण आत्माओं में विकल्प भेद की लहरें उठती हैं, पर परमात्मा इन सबसे रहित होता है। दूसरे शब्दों में जब आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाता है, तब परमात्मा की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।



अन्तरात्मा

विन्यान जेवि जानंते, अप्पा पर परषये ।
परिचये अप्प सद्भावं, अंतर आत्मा परषये ॥४९॥

जिस आत्मा के पास असिवत्, तीक्ष्ण भेद-विज्ञान है।
'यह आत्मा है और यह पर है', जिसे पहिचान है ॥
जो आत्मा की शुद्ध सत्ता से, नहीं अनभिज्ञ है ।
भव्यो वही सविवेक, अंतर-आत्म सद्विज्ञ है ॥

जिसके पास भेद-विज्ञान रूपी कसौटी विद्यमान है; जिसमें इतना विवेक है कि वह स्व और पर की पहिचान कर सके और जो आत्मा के सत्ता रूप शुद्ध स्वभाव से पूर्ण परिचित है, वही आत्मा अन्तरात्मा है, ऐसा समझना चाहिये ।

बहिरात्मा

बहिरप्पा पुद्गलं दिस्टा, रचनं अनन्त भावना।
परपंचं जेन तिस्टंते बहिरप्पा संसार अस्थितं ॥५०॥

जो पुद्गलों में आत्म-विस्मृत है, निरन्तर मग्न है ।
जो पुद्गलों के खेल में ही, रात-दिन संलग्न है ॥
संसार-सागर में पड़े, रहना ही जिसका ध्येय है ।
वह ही प्रपंची जीव बस, बहिरात्मा अज्ञेय है ॥

जो पौद्गलिक पदार्थों को देखने में और उनकी रचना करने में अत्यन्त आनन्द मानता है, जिसका सारा समय सांसारिक प्रपंचों में पड़े रहने में ही व्यतीत होता है और जो इस तरह अपने संसार की स्थिति दृढ़ बनाये रहता है, वही आत्मा बहिरात्मा कहलाता है ।



बहिरप्पा परपंच अर्थं च, तिक्तते जेवि चपला ।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, देव देवं नमस्कृतं ॥५१॥

जड़ सृष्टि में ही लिप्त रहता है, सदा बहिरात्मा ।
उस मूढ़ पर अज्ञान की रहती, सतत छाई अमा ॥
जिस आत्मा को नमन करते, इंद्र तक थकते नहीं ।
उस आत्म-मणि को काँच कहकर, फेंक देते जड़ वहीं ॥

बहिरात्मा जीव सदा पुद्गलों के प्रपंच में ही फँसा रहता है । इस अज्ञान के कारण, वह उस विशुद्ध आत्म-मणि को, जिसको कि देवों के देव इन्द्र तक भी नमन करते थकते नहीं, काँच सी जानकर, त्याग बैठता है ।

वहिरात्मा के कार्य

*

रागद्वेष युक्त कुदेवों का पूजन

कुदेवं प्रोक्तं जेन, रागादि दोम मंजुतं ।
कुन्यानं त्रति संपूर्न, न्यानं चैव न दिस्टते ॥५२॥

जो रागद्वेषादिक मलों से, पूर्ण हैं संतप्त हैं ।
जो त्रविधि मिथ्याज्ञान की, कटु कालिमा से लिप्त हैं ॥
जिनके हृदय अणुमात्र, सम्यग्ज्ञान से भी हीन हैं ।
वे हैं कुदेव, कुदेव यह कहते जिनेन्द्र प्रवीण हैं ॥

जो अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे प्रभु कहते हैं कि जो रागादि अनेक दोषों के घर हैं; जो कुमति, कुश्रुत और कुअवधि इन तीन ज्ञानों के धारी हैं और जिनके हृदय सम्यग्ज्ञान से पूर्णतया रहित हैं, वे सब देव, कुदेवों की कोटि में आते हैं ।

★

माया मोह ममत्तस्य, असुभ भाव रतो सदा ।
तत्र देव न जानंते, जत्र रागादि मंजुतं ॥५३॥

जो जीव मायाचारिता में, स्वत्व अपना खो चुके ।
जो अशुभ भावों की शरण में, जा सदा को सो चुके ॥
वे ही कुमति वहिरात्मा, जो स्वपर भेद न जानते ।
ऐसे कुदेवों को ही अपना, देव कहकर मानते ॥

जो दिन रात माया मोह के चक्कर में फँसे रहते हैं और जो अशुभ भावों के चिन्तवन में ही लीन रहा करते हैं, ऐसे वहिरात्मा प्राणी ही, संसार के रागों के वशीभूत होकर, ऐसे मिथ्या देवों को, देव कहकर पुकारते हैं ।

आरति रौद्रं च सद्भावं, माया क्रोध मयं जुतं ।
कर्मना असुह भावस्य, कुदेवं अनृतं परं ॥५४॥

जो आर्त्त रौद्र ध्यान के, नरकों–से गहरे कुण्ड हैं ।
जिनके मलिन तन पर कषायों के, विचरते झुण्ड हैं ॥
ऐसे कुदेवों की विनय, मिथ्यात्व है; अज्ञान है ।
उनकी असत् विरदावली, करती मलिन सत्ज्ञान है ॥

जो आर्त और रौद्र इन दो अशुभ ध्यानों का चिन्तवन करते हैं; माया, क्रोध, मद आदि दुर्गुणों से जो परिपूर्ण रहते हैं, ऐसे मिथ्या देवों की विनय या पूजा करना महान अज्ञानता है, मिथ्यात्व है। उनकी मिथ्या प्रशंसा भी, भावों को अशुद्ध बनाने में सहायक होती है, इसका ध्यान रखना चाहिये ।



अनंत दोष संजुक्तं, सुद्ध भाव न दिस्टते ।
कुदेवं रौद्र आरूढं, आराध्यं नरयं पतं ॥५५॥

जो जन अनंतानंत दोषों से, मलों से युक्त हैं ।
ऐसा न कोई अगुण जिससे, वे तनिक भी मुक्त हैं ॥
जिनमें न शुभतर भाव हैं, जो रौद्र ध्यानारूढ़ हैं ।
ऐसे कुदेवों की विनय से, नर्क जाते मूढ़ हैं ॥

जो अनंत दोषों के घर हैं; शुद्ध भावों की जिनके हृदय में छाया तक नहीं दिखाई देती है तथा जो रौद्र ध्यान के चिन्तवन करने में ही संलग्न रहा करते हैं, ऐसे जो देव नाम धारी कुदेव होते हैं, उनकी आराधना, मनुष्य को पतन के गर्त में या नर्क में डालने वाली होती है ।

कुदेवं जेन पूजंते, वन्दना भक्ति तत्परा ।
ते नरा दुष माहंते, संसारे दुष भीरुहं ॥५६॥

जो नर कुदेवों की सश्रद्धा, नित्य करते वंदना ।
जो भक्ति में आरूढ़ हो, उनकी करें नित अर्चना ॥
वे जीव इस संसार में, अगणित युगों तक घूमते ।
विकराल दुख सहते हुए, जग की दुखद रज चूमते ॥

जो कुदेवों की पूजा करते हैं; जो उनकी वन्दना भक्ति में निरन्तर तत्पर रहते हैं, ऐसे मानव इस भयानक संसार में अनन्त काल तक दुःख सहते हुए विचरण करते रहते हैं ।



कुदेवं जेन मानंते, असथानं जेवि जायते ।
ते नरा भयभीतस्य, संसारे दुष दारुनं ॥५७॥

जो जीव गाते हैं कुदेवों की, सतत विरदावली ।
जो नित्यप्रति ही छानते, रहते कुदेवों की गली ॥
उनका कभी मिटता नहीं, संसार से आवागमन ।
भव-वावली में वे लिया करते, सभय जीवन मरण ॥

जो कुदेवों की मान्यता करते हैं या जो उनकी अराधना के लिये उनके स्थानों में जाते हैं, वे मनुष्य इस दुःखपूर्ण संसार से कभी निवृत्त नहीं होते और हमेशा ही वे इस भव-कूप में जन्म लेकर भय-भीत बने रहते हैं ।

मिथ्या देवं च प्रोक्तं च, न्यानं कुन्यान दिस्टते ।
दुरबुद्धि मुक्ति मार्गस्य, विस्वासं नरयं पतं ॥५८॥

रागादि दोषों से भरे, मिथ्या कुदेवों का कथन ।
शशि से समुज्ज्वल ज्ञान पर, घन सदृश बनता आवरण ॥
चिर सुख-सदन की राह में, दुर्बुद्धि फिर जाती नहीं ।
पतितोन्मुख बहिरात्माएं, सुख कभी पाती नहीं ॥

देवों के विपरीत गुणों को धारण करने वाले कुदेवों का कथन, ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान में परिणत कर देता है । इन कुदेवों की आराधना से जिनकी बुद्धि दुर्बुद्धि में बदल जाती है, वह फिर मुक्ति मार्ग में जाने का साहस नहीं करते; उनकी बुद्धि मुक्ति से परान्मुख हो जाती है और फल यह होता है कि उनके विश्वास के कारण वे नर्क के पात्र बनते रहते हैं ।



जस्स देव उपास्यंते, क्रियते लोकमूढयं ।
तत्र देवं च भक्तं च, विस्वासं दुर्गति भाजनं ॥५९॥

सर्वज्ञभाषित देव से, जिनके हृदय प्रतिकूल हैं ।
जन मूढ़ता वश जो, कुदेवों को चढ़ाते फूल हैं ॥
जिनको कुदेवों की विनय, देती परम आनन्द है ।
मिलती उन्हें बस अमरबेला सी नरक निष्कन्द है ॥

जो देवोचित गुणों से पूर्ण सुदेवों या वास्तविक देवों की आराधना तो नहीं करते, किन्तु लोगों की देखादेखी, लोकमूढ़ता वश होकर कुदेवों का वंदन करते हैं; कुदेवों की भक्ति करते हैं या कुदेवों में विश्वास करते हैं, वे मानव अवश्य पतन के गड्ढे में या नर्क में गिरते हैं ।

देवत्व से हीन अदेवों की अर्चना

अदेवं देव प्रोक्तं च, अंधं अंधेन दिस्टते ।
मार्ग किं प्रवेसं च, अंध कूपं पतंति ये ॥६०॥

चैतन्यता से हीन जो, अज्ञान जड़ स्वयमेव हैं ।
उनको बना आराध्य ये नर, कह रहे ये देव हैं ॥
अन्धों को अन्धेराज ही यदि, स्वयं पथ दिखलायेंगे ।
तो है सुनिश्चित वे पथिक जा, कूप में गिर जायेंगे ॥

मनुष्य देवों में कहे गये गुणों से शून्य अदेवों को देव कहकर पुकारते हैं। अदेवों को देव मान लेना याने एक नेत्र-विहीन पुरुष का, उस पुरुष से अपने गंतव्य स्थान की राह पूछना है, जो स्वयं बहुत दिनों से अपनी दृष्टि खोये बैठा है। भला सूरदास को सूरदास ही क्या राह बतायेंगे? फल यही होगा कि अगर उनके बताये हुए पथ का अनुसरण किया गया तो निश्चित ही वे पथिक कुए में जाकर गिर जायेंगे।



अदेव जेन दिस्टंते, मानते मूढ संगते ।
ते नरा तीव्र दुषानि, नरयं तिरयं च पतं ॥६१॥

जिन मूढ़ पुरुषों पर, कुसंगति का अकाट्य प्रभाव है ।
जिनके हृदय में राज्य करता, भेद-ज्ञान-अभाव है ॥
वे देव-सी करते अदेवों की सतत आराधना ।
नर्क-स्थली या तिर्यग गति पा, दुःख वे सहते घना ॥

जो पुरुष मिथ्याज्ञान से ढँके हुए, मूढ़ पुरुषों की संगति के प्रभाव से अदेवों में देव के रूप का दर्शन करते हैं और उनको देव के समान मानकर उनकी आराधना करते हैं, वे या तो विकराल दुःखों के समुद्र नर्क में जाते हैं, या फिर तिर्यंच गति में जन्म लेकर भयंकर कष्ट सहते हैं।

अनादि काल भ्रमनं च, अदेवं देव उच्यते ।
अनृतं अचेत दिस्टंते, दुर्गति गमनं च मंजुतं ॥६२॥

यह ही नहीं कि अदेव को, सतदेव कहना भूल है ।
परिपक्व इस अज्ञान से. होती अरे भव-मूल है ॥
जड़-पत्थरों के दर्शनों से, कर्म ही बँधते नहीं ।
उनका पुजारी नर्क तज, जग में न थल पाता कहीं ॥

जो देव के अनिवार्य गुणों से हीन हैं, उनको देव कह देना, संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करने का एक प्रधान कारण है। जिनमें वास्तविकता नहीं है और जो जड़ हैं: चैतन्य से रहित हैं. ऐसे देवों के दर्शन नर्क में गमन कराने वाले होते हैं।



अनृतं अचेत मानं च, विनासं जत्र प्रवर्तते ।
ते नरा थावरं दुषं, इन्द्री इत्यादि भाजनं ॥६३॥

जिस ओर सर्व विनाश की, विकराल दावा जल रही ।
जिनके वदन से प्रलयकर, गिरि-तुल्य ज्वाल निकल रही ॥
जो नर असत् को सत्य कह. जाता कहीं इस ओर है ।
एकेन्द्रियों में जन्म ले वह, कष्ट सहता घोर है ॥

जो अनृत या मिथ्यावस्तु को सत्य मानता है और विनाश की ओर अपने क़दम बढ़ाता है. वह मरण को प्राप्त होकर उस एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय में जन्म लेता है, जहाँ उसे अनन्त काल तक कठिन से कठिन दुःख उठाना पड़ते हैं।

मिथ्यादेव अदेवं च, मिथ्या दिस्टी च मानते ।
मिथ्यातं मूढ़ दिस्टी च, पतितं संसार भाजनं ॥६४॥

जो नर कुदृष्टी हैं, न जिनके पास भेद-विज्ञान है ।
जो नित कुदेव अदेव के, करते सुविस्तृत गान हैं ॥
उनसे नहीं होती विलग, संसार की क्रीड़ा-स्थली ।
वे नित नया जीवन-मरण ले, छानते जग की गली ॥

जो मिथ्यादृष्टि, सम्यक् नहीं किन्तु कुदेवों और अदेवों को मान्य देते हैं और उनकी वन्दना भक्ति करते हैं, उन पुरुषों से संसार कभी भी नहीं छूटता है और वे अपनी मिथ्या देवोपासना के फल-स्वरूप संसार-सागर में अगणित समय तक जन्म मरण किया करते हैं।



असद्गुरुओं की सेवा

सद्गुरु के लक्षण

संमिक गुरु उपाद्यंते, संमिक्तं सास्वतं धुवं ।
लोकालोकं च तत्वार्थं, लोकितं लोक लोकितं ॥६५॥

सद्गुरु वही है जो सदा, सम्यक्त्व में लवलीन है ।
तत्वार्थ का सत्ज्ञान जिसका, सुदृढ़ शंका-हीन है ॥
जो लोक और अलोक के, विज्ञान का भण्डार है ।
जिसके अलौकिक ज्ञान से, जगमग सकल संसार है ॥

सद्गुरु कौन ? किसे सद्गुरु की संज्ञा दी जाना चाहिये ? उसे ही, जो आत्मा के सर्वमान्य, त्रिकालाबाधित सम्यक्त्व गुण का निश्चल और प्रगाढ़ पुजारी हो: जो लोक और अलोक के तथा आत्मतत्व के विज्ञान का प्रकाण्ड पण्डित हो तथा जो इतने ज्ञान का निधान हो, कि जिसके प्रकाश के पुंज से सारा संसार आलोकित हो जाये।

ऊर्ध अधो मध्यं च, न्यान दिस्टि समाचरेत् ।
सुद्ध तत्व असूथिरी भूतं, न्यानेन न्यान लंकृतं ॥६६॥

सद्गुरु वही जिसके दृगों में, ज्ञानमय समदृष्टि है ।
जो ज्ञानमय समदृष्टि से ही, देखता यह सृष्टि है ॥
तत्वार्थ की ही अर्चना, जिसका सुभग संसार है ।
जिस ज्ञानमय से ज्ञान नित, पाता नया शृंगार है ॥

जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक अर्थात् जहाँ तक सृष्टि का विस्तार है, सर्वत्र ज्ञान से पूर्ण समताभाव का आचरण करते हैं, अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों में समता का अनुभव करते हैं; किसी को बड़ा और किसी को छोटा या किसी को ऊँच और किसी को नीच नहीं देखते; जो शुद्ध आत्म-तत्वमें ही ध्यानारूढ़ रहते हैं और जो अपने ज्ञान से स्वयं ज्ञान को अलकृत करते हैं, वही सद्गुरु कहलाते हैं।



सुद्ध धर्मं च सद्भावं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
सुद्धात्मा चेतना रूपं, रत्नत्रयं लंकृतं ॥६७॥

सत्धर्म की सावन सरीखी, जो लगा देते झड़ी ।
तृण के सदृश जो तोड़ देते, स्वपर कर्मों की कड़ी ॥
जो शुद्ध आत्मिक धर्म से, करते प्रकाशित हैं मही ।
शिव, सत्य, सुन्दर, तत्व उपदेशक, सुगुरु सद्गुरु वही ॥

जो शुद्ध भावों की सत्ता से पूर्ण है; चैतन्य जिसका प्रधान लक्षण है तथा मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करानेवाले रत्नत्रय जिसके आभूषण हैं, ऐसा जो आत्मिक धर्म है, जगत को उसका ही उपदेश देकर जो स्वपर कर्मों की कड़ी तोड़ते हैं, वही सच्चे साधु या गुरु कहलाते हैं ।

न्यानेन न्यानमालंव्यं, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ।
मिथ्या माया न दिस्टंते, संमिक्तं सुद्ध दिस्टते ॥६८॥

सद्गुरु वही जिसका हृदय, सम्यक्त्व का शुचि स्रोत है ।
जो ज्ञान का अवलम्ब है, भव-सिन्धु का जो पोत है ॥
जिसका हृदय सद्ज्ञान रत्नों से, सुविधि सम्पन्न है ।
मिथ्यात्व मायाचारिता से, सर्वथा जो भिन्न है ॥

जिनका पहुँचा हुआ आत्मज्ञान ज्ञान का अवलम्ब या सम्बल बन जाता है; जो तीन मिथ्याज्ञानों से सर्वथा हीन रहते हैं; जिनमें सांसारिक मायाचार देखने को भी नहीं मिलता है तथा जो सम्यक्त्व या पूर्णत्व के छलछलाते हुए पात्र रहते हैं, वही पुरुषश्रेष्ठ सद्गुरु कहलाते हैं ।



संसारे तारनं चिंते, भव्य लोकेक तारकं ।
धर्मस्य अप्प सद्भावं, प्रोक्तं जिन उक्तयं ॥६९॥

'संसार से कैसे मिटे, इस लोक का आवागमन' ।
नितप्रति इसी का चिन्तवन, करते सुगुरु तारनतरन ॥
'निज आत्म ही सद्धर्म है', जिनराज का है जो वचन ।
उस तथ्य का ही लोक में, सद्गुरु सदा करते कथन ॥

जो सद्गुरु होते हैं, वे संसार से प्राणियों का किस भांति उद्धार हो; संसारी जीव जन्ममरण के बंधनों से किस भाँति छूटें, सदा इन्हीं समस्याओं में डूबे हुए रहते हैं तथा जिससे प्राणियों का संसार सूख जावे, ऐसे उस जितेन्द्रिय परमपुरुष द्वारा कथित आत्मधर्म का ही उपदेश संसार के मानवों को दिया करते हैं ।

न्यानं त्रितिय उत्पन्नं, ऋजु विपुलं च दिस्टते ।
मनपर्ययं च चत्वारि, केवलं सिद्धि साधकं ॥७०॥

मति, श्रुत, अवधि सद्ज्ञान से, जो तीन मुक्ताराज हैं ।
सत् साधु के वे नियम से, रहते हृदय के साज हैं ॥
होता उन्हें नव मनःपर्यय-ज्ञान का भी भास है ।
कैवल्य की सद् प्राप्ति में, चलता सतत अभ्यास है ॥

जो सद्गुरु होते हैं उन्हें मति, श्रुत और अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं। ऋजु और विपुल ये मन:पर्यय ज्ञान भी उन्हें दिखलाई पड़ते हैं। कभी कभी मन:पर्यय को लेकर, चारों ज्ञान का भी उन्हें आभास हो जाता है। जो पांचवाँ केवलज्ञान है, उसकी साधना में सद्गुरु सदा लवलीन रहते हैं।



रत्नं त्रय सुभावं च, रूपातीत ध्यान संजुतं ।
सक्तिस्य विक्त रूपेन, केवलं पदमं ध्रुवं ॥७१॥

सद्गुरु वही जिसका कि, रत्नत्रय-मयी शुभ धर्म है ।
पर-ब्रह्म के रँग से रँगा, प्रत्येक जिसका कर्म है ॥
जो व्यक्त, ध्रुव, कैवल्य, पावन श्री जिनेन्द्र समान है ।
जो अचल मुद्रा-रूढ़ हो, धरता अरूपी ध्यान है ॥

जिनके स्वभाव रत्नत्रय धर्म से पूर्ण हैं या जो निशिवासर रत्नत्रय धर्म के पालन में लवलीन रहा करते हैं; रूपातीत ध्यान ही एकमात्र जिनकी निमग्नता का विषय है और उसके द्वारा जो आत्मा से साक्षात्कार या सामीप्य स्थापित कर लेते हैं और जो केवलज्ञान के धारी सिद्धों के समान ध्रुव व पवित्र हैं, वही पवित्रात्मा सद्गुरु कहलाते हैं।

कर्म त्रि-विनिर्मुक्तं व्रत तप संजम संजुतं ।
सुद्ध तत्वं च आराध्यं, दिस्टतं संमिक दर्सनं ॥७२॥

सद्गुरु वही, उस आत्म का ही ध्यान जो धरता सदा ।
जो तीन दारुण कर्म के, भय से रहित है सर्वदा ॥
व्रत, तप, सुसंयम-साधना में, जो सतत संलग्न है ।
शुद्धात्मा में लीन जो, सम्यक्त्व-सिन्धु निमग्न है ॥

जो सद्गुरु होते हैं वे तीन प्रकार के कर्मों से सर्वथा हीन होते हैं; व्रत, तप व संयम से वे युक्त होते हैं; उनका एकमात्र आराध्य शुद्धात्म तत्व ही होता है और उनकी जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती है, सर्वत्र उनको शुद्ध सम्यग्दर्शन की झाँकी ही दिखाई पड़ती है ।



तस्य गुनं गुरुस्चैव, तारनं तारकं पुनः ।
मान्यते सुद्ध दिस्टि च, संसारे तारनं सदा ॥७३॥

शुद्धात्मा की अर्चना, इतनी मृदुल सुखसार है ।
भव-सिन्धु से इसका पथिक, तरता न लगती बार है ॥
जो तर गया वह तरनतारन, आत्म-ध्वनि उचारता ।
संसार सागर से करोड़ों, जीव पार उतारता ॥

जिसमें साधुगण निशिवासर निमग्न रहते हैं, उस आत्मा की आराधना इतनी मृदुफलदायिनी है कि वह अपने आराधक को इस संसार सागर से पार कर देती है । इतना ही नहीं, किन्तु उसका आराधक भी आत्मतत्व पर श्रद्धान करता हुआ और जग को शुद्धात्म तत्व का पाठ पढ़ाता हुआ, मानवों को तारने के लिये संसार सागर में पोत के समान हो जाता है ।

जावत् सुद्ध गुरं मन्य, तावत् गत विभ्रमं ।
सल्यं निकंदलं जेन, तस्मै श्री गुरुभो नमः ॥७४॥

शुद्धात्मा के अनुभवी, गुरुवर्य की जब तक शरण ।
मोहादि भ्रम के हृदय में तब तक, नहीं पड़ते चरण ॥
जिन साधुओं के शून्य, तीनों शल्य से हृद-धाम हैं ।
उनके पदाम्बुज में अकिंचन के, असंख्य प्रणाम हैं ॥

जब तक शुद्ध, सम्यक् और आत्मानुभवी गुरु की शरण रहती है, तब तक किसी भी मोह या विभ्रम के इस हृदय में चरण नहीं पड़ने पाते। जिन गुरुवर्यों ने तीनों शल्यों को नष्ट कर डाला है उनको मेरे असंख्य प्रणाम हों।



असद्गुरु के लक्षण

कुगुरुस्य गुरं प्रोक्तं च, मिथ्या रागादि संजुतं ।
कुन्यानं प्रोक्तं लोके, कुलिंगी असुह भावना ॥७५॥

जो रागद्वेषादिक मलों के, पूर्णतम आधार हैं ।
जो अशुभ कुत्सित-भावनाओं के विशद भण्डार हैं ॥
कुज्ञान का जो दान दें, जिनके कुलिंगी वेश हैं ।
वे गुरु नहीं हैं, कुगुरु हैं, कहते महान जिनेश हैं ॥

जो रागद्वेष आदिक आत्मा की मिथ्या परिणतियों के धारी हैं; जनता में मिथ्याज्ञान का प्रचार करते हैं; साधु का जो परिग्रहों से हीन वेष होना चाहिए, उसे छोड़कर जो आडम्बरों से युक्त वेष को धारण करते हैं और जिनकी भावनाओं में अशुभ परिणाम विचरण किया करते हैं, वही इस संसार में कुगुरु कहलाने योग्य साधु हैं।

कुगुरुं राग संबंधं, मिथ्या दिस्टी च दिस्टते ।
राग दोष मयं मिथ्या, इन्द्री इत्यादि सेवनं ॥७६॥

जो कुगुरु होते, राग में रहते सदा वे लिप्त हैं ।
मिथ्यात्व से उनके हृदय, रहते न रंच अरिक्त हैं ॥
संसार को जो दृढ़ बनाने में, महान प्रवीण हैं ।
रहते कुगुरु उन ही पंचेन्द्रिय, भोग के आधीन हैं ॥

जो कुगुरु या खोटे गुरु होते हैं वे राग में संतप्त रहा करते हैं, अतः इस राग भाव के संसर्ग से उनकी दृष्टि पर असम्यक्त्व का पर्दा चढ़ जाता है। राग-द्वेषों से भरे हुए और देखते देखते विनाश हो जाने वाले जो पंचेन्द्रियों के विषय हैं, वे कुगुरु उन्हीं विषयों के आधीन रहते हुए पाये जाते हैं।



मिथ्या समय मिथ्यं च, प्रकृति मिथ्या प्रकासये ।
सुद्ध दिस्टी न जानंते, कुगुरु संग विवर्जए ॥७७॥

मिथ्या कुवचनों से रँगे, जिन आगमों के पृष्ठ हैं ।
उपदेश उन ही का सतत् देते कुगुरु निकृष्ट हैं ॥
जड़-कथन में ही शब्द की वे, जालियाँ रचते रहें ।
ऐसे कुगुरु बहिरात्माओं से, सुमति बचते रहें ॥

जो कुगुरु होते हैं, वे सदा ऐसे शास्त्रों का ही उपदेश दिया करते हैं, जो मिथ्याज्ञान से परिपूर्ण रहते हैं। विवेचन भी उन्हीं वस्तुओं का करते हैं जो क्षणभंगुर पर्याय वाली होती हैं। शुद्धात्मा तत्व क्या है, इसको कुगुरु नहीं जानते हैं, अतः बुद्धिमानों को उचित है कि वे ऐसे मिथ्यामार्ग-गामी गुरुओं की संगति से सदा ही बचते रहें।

कुगुरुं कुन्यानं प्रोक्तं च, सल्यं त्रि-दोष संजुतं ।
कसायं वर्धनं नित्यं, लोकमूढस्य मोहितं ॥७८॥

जो तीन शल्यों के घिनौने, अशुचिपूर्ण निवास हैं ।
जिनमें कषायों के भरे, अगणित भयंकर त्रास हैं ॥
मूढ़त्व जिनके वचन से, शत शत मुखों से बोलता ।
जग में कुज्ञान बिखेरता, ऐसा कुगुरु है डोलता ॥

मिथ्याज्ञान के उपदेशक साधु कैसे होते हैं ? मिथ्या, माया और निदान इन तीन शल्यों से भरे हुए; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार संसारवर्द्धिनी कषायों को बढ़ाने वाले और भेदविज्ञान रहित लोकमूढ़ता के जाल में पूर्ण रूप से फँसे हुए।



इन्द्रियानां मनोनाथा, प्रसरंतं प्रवर्तते ।
विमर्यं विषय दिस्टं च, ममतं मिथ्या भूतयं ॥७९॥

पंचेन्द्रियों का नाथ मन है, जो महा बलवान है ।
जितना उसे अवकाश दो, वह प्रसरता द्रुतिमान है ॥
इस मन-कुरंग पर कल्पना में, कर कुगुरु असवारियाँ ।
जड़ इन्द्रियों के भोग की, निरखें विषम फुलवारियां ॥

मन पाँचों इन्द्रियों का नाथ माना जाता है। इसमें एक विशेषता होती है कि इसे जितना भी फैलने का अवकाश दिया जाय, यह फैलता ही जाता है। जो खोटे गुरु होते हैं, वे इस मिथ्याभूत मन पर असवारी करके, निशिवासर संसार की विषम विषय भोगों की फुलवारियों की सैर किया करते हैं।

अनृतं उत्साहं कृत्वा, भावना असुहं परं।
माया अनृत असत्यस्य, कुगुरुं संसार असृथितं ॥८०॥

मन के परों पर कुगुरु उड़ते, दूर और सुदूर हैं।
पर जब न फलती कामना, होते दुखों से चूर हैं॥
इस तरह माया मोह की, पीते सुरा की प्यालियाँ।
वे छानते रहते सदा, इस विशद भव की नालियाँ॥

मन रूपी घोड़े पर सवारी करके खोटे गुरु अपने उत्साह को प्रतिपल द्विगुणित बनाते हुए, संसार की नित नई सैर करते हैं, किन्तु क्या यह उत्साह से किया हुआ काम किसी सुख का देनेवाला होता है? नहीं! फल यह होता है कि जब मनोवांछित कामना नहीं फलती, तब ये कुगुरु अनेकों प्रकार के संकल्प विकल्प परिणाम करते हैं और माया, मोह और असत्य आचरण के पात्र होने से अन्त में अनंत काल तक संसार सागर में परिभ्रमण किया करते हैं।



आलापं असुहं वाक्यं, आरती रौद्र संजुतं।
क्रोध लोभ मयं मानं, कुलिंगी कुगुरुं भवेत् ॥८१॥

जो कुगुरु हैं, जिनके मलिन कुत्सित कुलिंगी वेश हैं।
उनके कषायों से भरे, होते हृदय के देश हैं॥
वे मूढ़ क्या हैं, अशुभतम आलाप के भण्डार हैं।
रौद्रार्त से उनके सभी होते, सने व्यवहार हैं॥

जो कुगुरु होते हैं वे मुख से कटु शब्दों का उच्चारण करते हुए दिखाई देते हैं; आर्त और रौद्र अपध्यानों का वे चिन्तवन करते हैं; क्रोध, मान, माया, लोभ ये जो चार कषायें होती हैं, उनके वे भण्डार होते हैं और परिग्रहों से लदे हुए अशुभ उनके वेश होते हैं।

कुगुरुं पारधी मंजुक्तं, मंमार बन आश्रयं ।
लोक मूढस्य जीवस्य, अधर्म पामि बंधनं ॥८२॥

जो गुरु नहीं हैं कुगुरु हैं, जो कुगुरु ही न, बहेलिये ।
वे घूमते संसार-वन में, हाथ में फंदे लिये ॥
जग-मूढ़ता-स्थित जीव जा, बसते जगत के बीच हैं ।
मिथ्यात्व-बंधन में उन्हें, नित फांसते वे नीच हैं ॥

खोटे गुरु बहेलियों के समान हुआ करते हैं, जो संसार रूपी बन में अपना अड्डा जमाकर बैठे रहते हैं। इनके शिकार होते हैं, देखा-देखी करने वाले भेद-विज्ञान से रहित, लोकमूढ़ता में फँसे हुए प्राणी। इन अंधविश्वासी मानवों के आगे ये कुगुरु रूपी बहेलिये अपना अधर्म रूपी फंदा डाल देते हैं और उसमें इन भोले जीवों को फांस लिया करते हैं।



अरंडते ते बने जीवा, बृप जाल पारधी करं ।
विस्वामं अहं बंधे, लोकमूढ़स्य किं पस्यति ॥८३॥

मिथ्यात्व-माया के कुगुरु जन, फेंकतेजब जाल हैं ।
मोहान्ध फंस जाते वहीं, उस जाल में तत्काल हैं ॥
मिथ्यात्व कर देता उन्हें, इस भांति से बेहाल है ।
उनको न होता भान यह, हम फंस रहे, यह जाल है ॥

संसार बन के प्राणी रूपी पखेरू कुगुरु रूपी बहेलियों के द्वारा बिछाये हुए जाल में एक एक करके फँस जाते हैं, वे संसारासक्त प्राणी इस बात को नहीं देखते कि वह पारधी के द्वारा बिछाया हुआ कोई जाल है और अगर मैं इसमें के दाने चुराने गया तो सिवा अपने प्राणों को फँसा देने के मेरे हाथ कुछ भी नहीं आयेगा।

कुगुरुं अधर्म पस्यंतो, अदेव कृत ताडकी ।
विकथा राग दंड जालं, पास विस्वास मूढयं ॥८४॥

जिसको कुगुरु के धर्मरूपी, व्याल ने आ डस लिया ।
उसका अदेवों से समझ लो, भर गया पूरा हिया ॥
विकथा कषायों में ही अपना, वह समय खोने लगा ।
मूढ़त्व में हो लिप्त, भव के बीज वह बोने लगा ॥

जो कुगुरुओं के उपदेश से अधर्म के पात्र बन जाते हैं, वे अदेवों की भक्ति में निश्चयत: लीन हो जाते हैं; रागों से भरी हुई जो विकथाएं हैं, उनके सुनने में आनन्द लेने लगते हैं और इस तरह विश्वास रूपी उस पाश में सदा के लिये बंदी बन जाते हैं जो मूढ़ता रूपी रेशों से बनी रहती है और अगणित जन्म मरण धारण कराती रहती है ।



बनं जीवा गणं रुदनं, अहं बंधंति जन्मयं ।
अगुरुं लोकमूढस्य, बंधंति जन्म जन्मयं ॥८५॥

फँसती बधिक के जाल में, जो भी विहँग की पांत है ।
वह एक भव के लिये ही, धोती वहाँ पर हाथ है ॥
जिन पर कुगुरु-रूपी बधिक की, पड़ गई पर जालियाँ ।
पीलीं समझ लो, उन खगों ने कई भवों की प्यालियाँ ॥

हे मानवो ! बनवासी पारधी के जाल में जो पक्षी फँस जाते हैं, वे सिर्फ एक जन्म के लिये ही रुदन मचाते हैं, किन्तु लोकमूढ़ता के वशीभूत होकर जो प्राणी कुगुरों के फन्दे में फँस जाते हैं, वे जन्म जन्म के लिये बंधन में पड़ जाते हैं अर्थात् उनका अगणित काल तक संसार से आवागमन नहीं मिटता ।

कुगुरस्य गुरुं मान्ये, मूढ दिस्टि च मंगता ।
ते नरा नरयं जांति, सुद्ध दिस्टी कदाचना ॥८६॥

जो मूढ कहते अगुरु को मेरे यही गुरुदेव हैं ।
जो मूढ़दृष्टि मनुष्य का, करते कुसंग सदैव हैं ॥
वे नर कुगति को बांध, भीषण नर्क में जाते सही ।
सत् दृष्टि की उनको कभी, फिर प्राप्ति होती है नहीं ॥

जो अगुरुओं को अपना गुरु मानते हैं और मिथ्यादृष्टियों की संगति करते हैं, वे मनुष्य अवश्य ही नर्क में जाते हैं और शुद्धदृष्टि का लाभ फिर उन्हें कभी नहीं होता है ।



अनृतं अचेतं प्रोक्तं, जिन द्रोही वचन लोपनं ।
विस्वासं मूढ जीवस्य, निगोयं जायते धुवं ॥८७॥

जिन के वचन को लुप्तकर, उपदेश जो देते, अरे !
वे गुरु नहीं हैं, किन्तु वे जिनराज द्रोही हैं खरे ॥
जो मूढ़ करते, इन कुगुरुओं में तनिक विश्वास हैं ।
वे अन्धविश्वासी सतत, करते निगोद निवास हैं ॥

सर्वज्ञ ने शुद्धात्म तत्व की जो महत्ता बताई है, उसका लोप कर, जो अचेतन और अनृत पदार्थ की उपासना करने का उपदेश देते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिये कि चूंकि वे आप्त के वचनों का लोपन कर रहे हैं, अतः वे निश्चित ही आप्तद्रोही हैं । ऐसे मिथ्योपदेशकों में जो मनुष्य विश्वास करते हैं, वे निश्चय ही निगोद के पात्र बनते हैं ।

दर्सनं भ्रस्ट गुरुश्चैव, अदर्सनं प्रोक्तं सदा ।
मानते मिथ्या दिस्टी च, न मानते सुद्ध दिष्टितं ॥८८॥

जो नामधारी गुरु हैं, पर जो पूर्ण मिथ्यादृष्टि हैं ।
वे नित्य ही करते अदर्शन की, जगत में वृष्टि हैं ॥
बस अंधविश्वासी ही ऐसे. कुगुरु को गुरु मानते ।
सत दृष्टि तो ऐसे कुगुरु की, भूल विनय न जानते ॥

जो गुरु नामधारी अवश्य हैं, किन्तु जो रंचमात्र भी आत्मनिष्ठ नहीं हैं; दर्शनभ्रष्ट हैं, वे सदा अनात्म को ही प्रधानता देते हुए उपदेश करते हैं अर्थात् आत्मतत्व की ओर से वे सदा पराङ्गमुख रहते हैं। ऐसे अनात्म-चारी कुगुरुओं को सिर्फ मिथ्याज्ञान से आवृत्त पुरुष ही गुरु मानते हैं। जिनके हृदय में आत्म-प्रतीति का सूर्य जाग चुका है, ऐसे ज्ञानवान पुरुष उनकी विनय भूलकर भी नहीं करते।



कुगुरुं संगते जेन, मानते भय लाजयं ।
आसा सनेह लोभेन, ते नरा दुर्गति भाजनं ॥८९॥

भय, लाज, आशा, स्नेह या पड़ लोभ के जंजाल में ।
जो कुगुरु की कर मान्यता, फंसते हैं उनके जाल में ॥
वे मूढ़ कर मिथ्यात्व की यों, मान्यता अनुमोदना ।
पड़कर अधोगति में निरन्तर, दुःख सहते हैं घना ॥

जो मनुष्य आशा, भय, स्नेह, लोभ या लाज के वशीभूत होकर, कुगुरुओं के धर्मोपदेश को श्रवण करते हैं या उनकी विनय पूजा करते हैं, वे मनुष्य अवश्य ही दुर्गति के पात्र होते हैं।

कुगुरं प्रोक्तं जेन, वचनं तस्य विस्वासनं ।
विस्वासं जेन कर्तव्यं, ते नरा दुर्गति भाजनं ॥९०॥

जो कुगुरु के मुख से निकलते, कटु वचन के व्याल हैं ।
वे हैं न रे ! विश्वासभाजन, व्याल तो बस काल हैं ॥
दुर्भाग्य से विश्वास उन पर, जिन नरों ने कर लिया ।
उनने अनन्तानन्त भव के, पान से उर भर लिया ॥

कुगुरुओं के मुख से जो उपदेश निकलते हैं, वे सम्यक् न होने के कारण कदापि ग्राह्य नहीं होते। जो मनुष्य उनकी वचनावली पर विश्वास कर लेता है; उनके उपदेश को सश्रद्धा ग्रहण कर लेता है, वह अनेकों दुर्गतियों के पात्र बनने का भार अपने कंधों पर रख लेता है।



कुगुरं ग्रंथ संजुक्तं, कुधर्मं प्रोक्तं सदा ।
असत्यं सहितं हिंसा, उत्साहं तस्य क्रीयते ॥९१॥

जो अन्त रंग बहिरँग परिग्रह के विपुल भण्डार हैं ।
ऐसे कुगुरुओं के कथन, होते सदा सविकार हैं ॥
जिस धर्म का इन कुगुरु से, मिलता हमें उपदेश है ।
वह "नित असत् पथ पर बढ़ो" करता यही निर्देश है ॥

अनेकानेक परिग्रहों से संयुक्त जो खोटे गुरु होते हैं, वे सदा कुधर्म का ही उपदेश दिया करते हैं। उनका उपदेश असत्य बातों से परिपूर्ण रहता है और वह मानव को उत्तरोत्तर असत् पथ की ओर अग्रसर किया करता है।

ते धर्म कुमति मिथ्यातं, अन्यानं राग बंधनं ।
आराध्यं जेन केनापि, संसारे दुष कारणं ॥९२॥

जो कुगुरुओं का धर्म है, वह राग-बंधन हेतु है ।
मिथ्यात्व उसका सार है, अज्ञान का वह सेतु है ॥
मिथ्यात्वमय इस धर्म की, जो वंदना में चूर हैं ।
संसार में वे नर उठाते, दुख दुसह भरपूर हैं ॥

खोटे गुरु जिस धर्म का उपदेश जन-साधारण को देते हैं, वह कुमति और मिथ्याज्ञान का भंडार होता है; अज्ञान से वह परिपूर्ण होता है और संसार में राग पैदा कराने वाला होता है। जो मनुष्य उनके धर्म की आराधना करते हैं, वे इस दुःख के कारण संसार में अनेकों कष्ट पाते हैं।



अधर्म धर्म प्रोक्तं च, अन्यानं न्यान उच्यते ।
अचेतं असास्वतं वंदे, अधर्म संसार भाजनं ॥९३॥

जो है अधर्म, कुसाधु उसको धर्म कहकर मानते ।
अज्ञान को ही वे अहंमति, ज्ञान कहकर जानते ॥
जो है अनित्य, कुगुरु उसे कहते यही ध्रुव, सार है ।
पर यह सुजान ! अधर्म है, संसार का यह द्वार है ॥

जो कुगुरु होते हैं वे अधर्म को धर्म और अज्ञान को ज्ञान कहकर पुकारते हैं। जो अनित्य, नश्वर-शील पदार्थ हैं, उनको वे कुगुरु शाश्वत और ध्रुव बतलाते हैं, पर यह सब मिथ्याधर्म की बातें होती हैं, जो संसार को वृद्धिंगत बनाने ही में सहायक होती हैं।

कुगुरुं अधर्म प्रोक्तं च कुलिंगी अधर्म संचितं ।
मानते अभव्य जीवस्य, संसारे दुष कारणं ॥९४॥

जो हैं अभव्य नहीं जिन्हें, चिर शान्ति सुख की कामना ।
वे कुगुरु के ही धर्म की, करते सतत आराधना ॥
जो हैं कुलिंगी साधु उनके, वे चरण नित चूमते ।
मिथ्यात्व बंधन बाँध ऐसे, कुजन भव भव घूमते ॥

जो अभव्य जीव हैं या जो जीव संसार में ही बंधे रहना चाहते हैं, वे कुगुरु के कथित अधर्म को धर्म कहकर ग्रहण कर लेते हैं और मिथ्या वेषधारी साधु को साधु कहकर मान लेते हैं और उनकी उपासना करने लग जाते हैं, पर भेद-विज्ञान शून्य उनका यह कार्य संसार को बढ़ाने वाला ही होता है।



मिथ्या धर्म की उपासना

अधर्म लक्षणस्चैव, अनृतं असत्यं श्रुतं ।
उत्साहं सहितं हिंसा, हिंसानंदी जिनागमं ॥९५॥

जिसका असत् श्रुत मात्र में, मिलता सुजन ! विस्तार है ।
मिथ्यात्व मायाचारिता का, जो बृहत् आगार है ॥
कटु दानवी हिंसा ही जिसका, लक्ष्यबिन्दु महान है ।
वह ही मुमुक्षु अधर्म है, करता जिनागम गान है ॥

जैन धर्म अधर्म किसको कहता है ? उसे, जिसके आधार मिथ्यात्व और असत्य से भरे हुए शास्त्र हों; जो हिंसा करने के लिये प्रोत्साहन देता हो तथा जिसमें ऐसे पाठों की भरमार हो कि पढ़ने वाले का मन हिंसा की भावनाओं से ओत प्रोत हो जाये।

हिंसानंदी, अनृतानंदी, स्तेयानंद अबंभयं ।
रौद्रध्यानं च संपूर्नं, अधर्मं दुषदारुनं ॥९६॥

जो घोर हिंसा और मिथ्यावाद में रंजित रहे ।
जो चौर्य का पोषण करे, अब्रह्मता को शुचि कहे ॥
इस भाँति चारों रौद्र का जो, बृहत् पारावार है ।
वह ही मुमुक्षु अधर्म है, जो दुःख का भंडार है ॥

अधर्म उसे ही माना गया है कि जिसमें हिंसानंदी, मृषानंदी, स्तेयानंदी और अब्रह्मानंदी इन चार रौद्र ध्यानों का सविस्तार वर्णन पाया जावे। ऐसे विषयों से पूर्ण अधर्म निश्चय ही दारुण दुःख का देने वाला होता है ।



आरति रौद्र संजुक्तं, ते धर्मं अधर्मं संजुतं ।
रागादिमलसंपूर्नं अधर्मं संसार भाजनं ॥९७॥

जो चार विधि के आर्त ध्यानों से भरा है, पूर्ण है ।
जो रागद्वेषादिक मलिनतम, भाव से संपूर्ण है ॥
जो रौद्र ध्यानों का गहन, विटपी सरिस आगार है ।
वह ही मुमुक्षु अधर्म है, संसार का जो द्वार है ॥

अधर्म में आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों का विशेषतया वर्णन पाया जाता है या यों कहिये कि अधर्म में जिन उपदेशों का समावेश होता है, उनमें आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों का स्पष्ट संकेत मिलता है। यह अधम रागद्वेष की भावनाओं को विस्तीर्ण करने वाला होता है और इसलिये मनुष्य को बार २ संसार में आवागमन करने के लिये बाध्य करता रहता है ।

व्यर्थ चर्चाओं में संलग्नता

विकहा राग संबधं, विसयं कषायं सदा ।
अनृतं राग आनंदं, ते धर्मं अधर्म उच्यते ॥९८॥

जो राग संवर्द्धक कथाओं की, पिलावे प्यालियाँ ।
जिसमें कषायों की, विषय की, बह रही हों नालियाँ ॥
जो अनृत में, मिथ्यात्व में ही, मग्न परमानंद है ।
वह ही मुमुक्षु अधर्म है, जो भव दुखों का कंद है ॥

वह धर्म, जो काम विकथा, चौर्य विकथा, राज्य विकथा व स्त्री विकथा इन चार विकथाओं से संबंधित हो; विषय-कषायों की चर्चाएं जिसमें पद पद पर भरी हों तथा जो अनात्म या पौद्गलिक विवेचनों में विशेष आनन्द लेता हो, वह वास्तव में अधर्म है ।



विकहा परिनाम असुहं च, नंदितं असुह भावना ।
ममत्व काम रूपेन, कथितं वर्न विसेषितं ॥९९॥

विकथा जनित जो ज्ञान है, वह अशुभ है, कटु म्लान है ।
विकथा जनित आनंद जो है, वह अशुभतम ध्यान है ॥
कई भांति से चित्रित बनाकर, ये कथा उच्चारना ।
यह कुछ नहीं, पर विषय भोगों में ममत्व प्रसारना ॥

विकथा सम्बन्धी जितना भी ज्ञान होता है, वह पूर्णतया अशुभ भावनाओं से परिपूर्ण होता है; उसमें आनन्द लेना, मानो अशुभ परिणामों से अपने आत्मा के स्वभाव को विकृत करना है । इन विकथाओं को जहाँ विशेष रूप से चित्रित करके कथन किया जाता है, वहाँ काम भाव का सहज ही प्रसार हो जाता है ।

नारी–चर्चा

अस्त्रियं काम रूपेन, कथितं वर्न विसेषितं ।
ते नरा नरयं जांति, धर्म रत्न विलोपितं ॥१००॥

इन कामसेना नारियों का, वह अकाट्य प्रभाव है ।
इनका कथन करता हृदय में, काम प्रादुर्भाव है ॥
इन नारियों का अतिशयोक्तिक, चित्र जो नर खींचते ।
वे धर्म–मणि खो, नर्क में निज नयनवारि उलीचते ॥

स्त्रियाँ काम की साक्षात् अवतार होती हैं। जो इन कामसेना नारियों का अतिशयोक्ति पूर्वक नखशिख वर्णन करते हैं या उनका बढ़ाकर वर्णन करते हैं, वे मनुष्य अपने धर्म रत्न को खोकर, नर्क के अवश्यम्भावी पात्र बनते हैं।



राज्य–चर्चा

राज्यं राग उत्पाद्यन्ते, ममतं गारव स्थितं ।
रौद्र ध्यानस्य आनंदं, राज्यं वर्न विसेषितं ॥१०१॥

वर्णन किसी भी राज्य का, करना बढ़ाना राग है ।
इससे भभक उठती है, गारवमयी ममता आग है ॥
करना अलंकृत राज्य वर्णन, यह महा दुख–मूल है ।
इससे सदा बढ़ता ही जाता, रौद्र–नद का कूल है ॥

अकारण किसी राज्य का प्रमादवश वर्णन करना, संसार के प्रति ममता पैदा कर लेना है। इन राजवंशों के वर्णन से गारव जाग जाता है; मोह पैदा हो जाता है और न मालूम आत्मा को किन २ दोषों का भाजन बनना पड़ता है। राज्यों के वर्णन सुनने से रौद्र ध्यान का चिंतवन भी हो जाता है जो अत्यंत ही पीड़ा देनेवाला होता है।

हिंसानंदी च राज्यं च, अनृतानंद असास्वतं ।
कथितं असुह भावेन, संसारे भ्रमणं सदा ॥१०२॥

करना अशुभतम भाव से रे ! चलित राज्यों के कथन ।
बंधते हैं इससे आत्मा के सँग, मलिनतम कर्म-कण ॥
यह कथन हिंसा, मृषामय, कटु म्लान रौद्र-ध्यान है ।
जो जीव को भव भव घुमा, देता विपत्ति महान है ॥

अशुभ भावनाओं को लेकर, क्षणभंगुर और चलित राज्यों के कथन करना, संसार भ्रमण करने का कारण होता है। क्यों ? इसलिये, कि इन राज्यों के कथन करने में जिन भावनाओं का उपयोग होता है, वे पूर्णतया हिंसा में डूबी हुई होतीं हैं; असत्य से उनका जन्म होता है और उनमें नाममात्र को भी निश्चलपना नहीं होता अर्थात् वे निरी जड़ और अचेतन होतीं हैं।



चौर्य-चर्चा

भयस्य भय भीतस्य, अनृतं दुष भाजनं ।
भावं विकलितं यांति, धर्म रत्नं न सुद्धये ॥१०३॥

जो भीरु हैं, जिन प्राणियों के, हैं हृदय भय से सने ।
देती उन्हें यह दुःखभाजन, चौर विकथा दुख घने ॥
यह कथा भर देती हृदय में, विकलतामय भाव है ।
रहता नहीं इससे कभी भी, धर्म का सद्भाव है ॥

जो कापुरुष हैं या जिनके हृदय भय से संतप्त रहते हैं, उनको दुःख से भरी हुई चौर्य विकथायें अनेक संतापों की कारण बन जाती हैं। इन डरावनी कथाओं के सुनने से उनके परिणामों में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनके चिरसंचित धर्मरत्न का एकदम लोप हो जाता है।

चौरस्य उत्पाद्यंते भावं, अनर्थ सो संगीयते ।
असुद्ध परनाम तिस्टंते, धर्म भाव न दिस्टते ॥१०४॥

यह चौर विकथा, चौर्यभावों का ही करती है सृजन ।
उन भाव का ही, जो बनाते, प्राणियों का विकल मन ॥
इनसे मलिन भावों को ही, मिलती हियों में ठौर है ।
दिखता नहीं फिर धर्म का सद्भाव हिय में और है ॥

चौर्य विकथा अनिष्ट क्यों ? इसलिये कि इसके सुनने से परिणामों में भी चौर्य भावों का समावेश हो जाता है; परिणाम अशुद्ध हो जाते हैं । जहां परिणामों में विकृति आई, वहां फिर धर्म का सद्भाव कैसा ? धर्मभाव फिर वहां दृष्टिगोचर नहीं होता है ।



चौरस्य भावना कृत्वा, आरति रौद्र संजुतं ।
असूतेया नंद आनंदं संसारे दुष दारुनं ॥१०५॥

यह चौर्य विकथा, हृदय में जिन भाव का करती सृजन ।
वे आर्त रौद्र ध्यान से, संतप्त रहते विज्ञजन !
इन चौर्य विकथाओं में जो, लेते सतत आनंद हैं ।
उनको सदा ही फाँसते रहते, विकट भव-फंद हैं ॥

चोरी की भावना हृदय में जिन परिणामों की सृष्टि करती है, वे आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों से संयुक्त होते हैं । जो मनुष्य इस चौर्य विकथा में आनन्द लेते हैं, वे संसार में अगणित समय तक भयंकर से भयंकर दुःख उठाते रहते हैं ।

चोरी कृत व्रतधारी च, जिन उक्तं पद लोपनं ।
अमास्वतं अनृतं प्रोक्तं, धर्म रत्न विलोपितं ॥१०६॥

जो जीव चौर्यानन्द से, बिलकुल पराङ्मुख हो चुके ।
व्रत-श्रंखला में बद्ध हो, जो चौर्य से कर धो चुके ॥
जड़ कथन कर, जिनवचन यदि वे, लुप्त करते हैं कहीं ।
तो वे अनृत कर, धर्म-मणि को फेंक देते हैं वहीं ॥

जो जीव चौर्य विकथाओं को नहीं सुनता है, न दूसरों को सुनाता है तथा जिसने प्रमुखता से चोरी न करने का व्रत ले लिया है, वह यदि जड़ पदार्थों का, पुद्गल का या अनात्मा का कथन करता है; उपदेश देता है तो वह चोरी ही करता है। चोरी साधारण नहीं—जिनेन्द्र के वचनों की चोरी वह चोरी जिससे धर्म-रत्न का बिलकुल लोप ही हो जाता है।



सप्त व्य[illegible] में रति

विकहा अधर्म मूल[illegible], [illegible] अधर्म संस्थितं ।
ते नरा भव [illegible], [illegible] पुनः पुनः ॥१०७॥

भव्यो ! जहाँ कि अधर्म की, चारों कथायें मूल हैं ।
सातों व्यसन उस ही जगह, उसके ठिकाने, कूल हैं ॥
जो जीव इस रिपु-राशि से, किंचित बढ़ाता राग है ।
वह मूढ़ समझो, भवदुखों से खेलता बस फाग है ॥

हे बुद्धिमानो ! जहां विकथाएं अधर्म की जड़ हैं, वहां व्यसन उसके रहने के ठिकाने हैं। जो मनुष्य इन विकथाओं व व्यसनों से राग बढ़ाता है, वह भव-सागर में बार बार दुःख उठाने को जन्म धारण करता रहता है।

द्यूत-क्रीड़ा

जूआ असुद्ध भावस्य, जोइतं अनृतं श्रुतं ।
परिणय आरति संजुक्तं, जूआ नरय भाजनं ॥१०८॥

यह जुआ करता सृजन, अंतर में मलिन संसार है ।
यह क्या ? नहीं कुछ, असत् वाणी का विशद भंडार है ॥
करता है आर्त ध्यान का, यह हृदतलों में परिणमन ।
इसके खिलाड़ी, नर्क में करते गमन, करते गमन ॥

जुआ हृदय में मलिन भावों का संसार उत्पन्न करने वाला होता है। मिथ्या और कटु वचनों का तो यह निवास ही समझा जाना चाहिये। इस व्यसन में फँसने से परिणामों में आर्तध्यान का प्राचुर्य हो जाता है, इससे यह जुआ मानवों को निश्चय से नर्क में पतन करनेवाला है।



माँस-भक्षण

मासं रौद्रस्य ध्यानस्य, संमूर्च्छन जत्र तिस्टते ।
जलं कंद मूलस्य साकं संमूर्छनस्तथा ॥१०९॥

सम्मूर्छन त्रस जन्तुओं की, वस्तु जो आगार हैं ।
वे हैं सभी ही मांस भक्ष्यो, रौद्र की वे द्वार हैं ॥
अनछना जल पीना व करना कंदमूलों का अशन ।
यह कुछ नहीं, त्रस जन्तुओं से, पोषणा है एक तन ॥

मांस किसे कहते हैं ? उन सारी वस्तुओं को जिनमें सम्मूर्च्छन जन्तुओं की सृष्टि दिखाई पड़े। मांस खाना रौद्र ध्यान का कारण होता है अर्थात् मांस खाने से हृदय में रौद्र भाव उत्पन्न हो जाते हैं अनछना जल, कंदमूल, पत्तेवाली शाक भाजी, ये सब मांस के ही अन्तर्गत आने वाली वस्तुएं हैं।

स्वादं विचलितं जेन, संमूर्छनं तस्य उच्यते ।
जे नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यंच नरय स्थितं ॥११०॥

जिन वस्तुओं के स्वाद, अपने स्वाद छोड़ बिगड़ गये ।
उसही समय उनमें वहाँ, सम्मूर्च्छन त्रस पड़ गये ॥
इन वस्तुओं से जो उदर भरते, कि वे अज्ञान हैं ।
वे नर नहीं, नर-योनि में हैं, पर तिर्यंच समान हैं ॥

जिन पदार्थों के स्वाद, अपना मूल स्वाद छोड़कर विकृत हो जाते हैं, उनमें असंख्यात सम्मूर्च्छन जीव पड़ जाते हैं। जो मनुष्य इन विकृत स्वाद वाली वस्तुओं का उपभोग करते हैं, वे तिर्यंच पर्याय में जाकर विविध जाति के पशु पक्षी बनते हैं।



विदल संधान बंधानं, अनुरागं जस्य गीयते ।
मनस्य भावनं कृत्वा, मामं तस्य न सुद्धये ॥१११॥

जो द्विदल हैं या जिस किसी भी, वस्तु में दो दाल हैं ।
उनको दही के साथ खाना, दोष ये विकराल हैं ॥
संधान भी अनभक्ष्य, पापों के विशद भंडार हैं ।
जो नर इन्हें खाते हैं, वे करते अमिष-आहार हैं ॥

जो मनुष्य विदल अर्थात् जिस अन्न में व मेवा में दो दालें होती है, दही के साथ मिलाकर खाता है, या निश्चित अवधि के बाद का अचार या मुरब्बा सेवन करता है, वह निश्चित रूप से मांसभक्षण करता है क्योंकि इन वस्तुओं के खाने का राग, उसके हृदय से छूट नहीं पाता है।

फलं संपूर्न भुक्तं च, संमूर्छन त्रस विभ्रमं ।
जीवस्य उत्पादंते दिस्टं, हिंमानंदी मांस दूषनं ॥ ११२ ॥

रे ! फलों के भीतर न, सम्मूर्च्छन विचरते हों कहीं ।
इससे बिना काटे कभी भी, पूर्ण फल खाओ नहीं ॥
अधिकांश में यह सत्य, फल सम्मूर्च्छनों के कोष हैं ।
जो पूर्ण फल खाते उन्हें लगते अमिष के दोष हैं ॥

पूर्ण फल (सम्पूर्ण फल) को, बिना काटे या बिना चीरे, कभी भी नहीं खाना चाहिये, क्योंकि उसमें सम्मूर्छन पाये जाने की संभावना है। अधिकांश में यह देखा गया है कि फलों में सम्मूर्छन जीव पाये जाते हैं, अतः जो बिना देखे पूर्ण फल को खा जाता है, वह हिंसानंदी जीव कहा जाता है और उसे मांस भक्षण करने का दोष लगता है।



मद्यपान

मद्यं ममत्व भावेन, राज्यं आरूढ चिंतनं ।
भापा शुद्धि न जानंते, मद्यं तस्य उच्यते ॥ ११३ ॥

जो मद्य पीता, स्वप्न के संसार में वह घूमता ।
संसार की समृद्धि को, वह मद्यपी नित चूमता ॥
वह क्या अनर्गल बक रहा, रहता न उसको ध्यान है ।
बनता कभी वह रंक, बनता वह कभी धनवान है ॥

मनुष्य मद्य पीकर स्वप्न के संसार में विचरण करने लगता है। कभी उसके नशे में वह राज्यारूढ़ हो जाता है और कभी अन्य समृद्धियों का धनी बन जाता है। मद्य के नशे में उसे अपनी भाषा का भी ध्यान नहीं रहता कि वह क्या बक रहा है और जो कुछ वह आलाप-प्रलाप कर रहा है, वह कहां तक उचित है।

अनृतं असत्य भावं च, कार्याकार्य न सूच्यते ।
ते नरा मद्यपा होंति, संसारे भ्रमनं सदा ॥ ११४ ॥

जो नर अचेतन और चेतन, को नहीं पहिचानते ।
क्या कार्य और अकार्य क्या, जो नर नहीं यह जानते ॥
अविवेक–मदिरा से छलकतीं, पी निरंतर प्यालियाँ ।
वे मद्यपी संसार की नित, छानते हैं नालियाँ ॥

जो मनुष्य चेतन और अचेतन या सत्य और असत्य पदार्थ के भेदाभेद को नहीं जानते हैं, वे भी एक मद्य पीने वाले के सदृश ही होते हैं और जिस तरह मद्यपी को अपने कुकर्म का फल भोगने पर विवश होना पड़ता है, उसी तरह इन अविवेकियों को भी संसार सागर में घूमकर अपने अज्ञान का फल भोगना ही पड़ता है ।



जिन उक्तं न मार्द्धन्ते, मिथ्या रागादि भावनं ।
अनृतं नृत जानंति, ममत्वं मान भूतयं ॥ ११५ ॥

प्रभु की सुधा सी गिरा पर, जिसको नहीं श्रद्धान है ।
मिथ्यात्व में ही लीन जिसका, नित निरन्तर ध्यान है ॥
जो जड़ अचेतन को ही, चिर, ध्रुव, सत्य कहता मूढ़ है ।
मिथ्यात्व का उस पर समझ लो, भूत बस आरूढ़ है ॥

जो सर्वज्ञ, वीतराग प्रभु के वचनों पर श्रद्धान नहीं करके, संसार के मिथ्या रागों में चूर रहता है और अचेतन पदार्थों को ही एकमात्र सारभूत पदार्थ समझकर उनकी, शाश्वत पदार्थों–सी विनय भक्ति करता है, उसके शीश पर आठों याम बस मिथ्यात्व का भूत ही सवार रहता है ।

सुद्ध तत्वं न वेदंते, असुद्धं सुद्ध गीयते ।
मद्यं ममत्व भावेन, मद्य दोषं जथा बुधैः ॥ ११६ ॥

जो शुद्धतम तत्वार्थ का, लाते न मनमें ध्यान हैं ।
जड़, पुद्गलों का आत्मवत्, करते सतत जो गान हैं ॥
इस भांति के मिथ्यात्व में ही, जो सदा लवलीन हैं ।
वे मद्यपी हैं, छानते नित चतुर्गति मतिहीन हैं ॥

जो मनुष्य शुद्ध आत्मतत्व का तो अनुभव नहीं करते और जड़ अचेतन पदार्थ की वन्दना भक्ति कर, उसके निरन्तर गीत गाते रहते हैं, वे पुरुष संसार की आसक्ति रूपी मदिरा का पान करने वाले होते हैं। अचेतन पदार्थ की चेतन के समान पूजा करना, यह भी मद्य पीने के समान एक महान दोष है।



जिन उक्तं सुद्ध तत्वार्थं, जेन सार्धन्त्यव्रती व्रती ।
अन्यानी मिथ्या ममतस्य, मद्ये आरूढ ते सदा ॥ ११७ ॥

जिस शुद्ध आत्मिक तत्व का, जिनराज करते हैं कथन ।
उसको नहीं जो साधते हैं, व्रती या अव्रती जन ॥
वे नर महा अज्ञान हैं, मतिहीन हैं, जड़, मूढ़ हैं ।
वे मद्यपी के सदृश मिथ्यामार्ग में आरूढ़ हैं ॥

श्री सर्वज्ञ प्रभु द्वारा जिस शुद्धात्मधर्म का कथन किया गया है, उसको जो व्रती या अव्रती मानव पालन नहीं करते हैं, वे महा अज्ञानी और मूढ़ होते हैं और ठीक उनके समान आचरण करते हैं जो दिन रात मद्य के नशे में चूर रहा करते हैं।

वेश्यागमन

विस्वा आसक्त आरक्तं, कुन्यानं रमतं सदा ।
नरय जस्य सद्भावं, ते भाव विस्वा दिस्टितं ॥ ११८ ॥

जो वेश्या के प्रेम में, आरक्त है, आसक्त है ।
उसका हृदय कुज्ञान से रहता सदा संयुक्त है ॥
करती है उसके चित्त में बस, वेश्या ही परिभ्रमन ।
पूर्णायु कर वह अधम, निश्चित नर्क में करता गमन ॥

जो वेश्या के प्रेम में आसक्त रहते हैं, वे मानव सदा कुज्ञान में ही रमण किया करते हैं। वेश्यागामियों के मनमें सदा वेश्या का ही ध्यान बना रहता है, अतः कुशील सेवन करने के परिणामस्वरूप उनका निश्चित ही नर्क में सद्भाव होता है।



आखेट

पारधी दुस्ट सद्भावं, रौद्र ध्यानं च संजुतं ।
आरति आरक्तं जेन, ते पारधी च संजुतं ॥ ११९ ॥

जो निठुर भावों से भरा; कटु रौद्र का जो धाम है ।
सर्वज्ञ कहते, 'पारधी', उस जीव का ही नाम है ॥
जो जीव आर्त ध्यान में ही, लिप्त है आसक्त है ।
वह भी सरासर पारधी की, भावना से युक्त है ॥

जो दुष्ट और क्रूर भावों से संयुक्त रहता है; दिनरात जिसके रौद्र ध्यान के चिन्तवन में ही बीतते हैं तथा आर्तध्यान से भी जिसका मन रिक्त नहीं रहता है, ऐसे दोषों से पूर्ण जो पुरुष रहता है, वह 'पारधी' कहलाता है।

मान्यते दुस्ट सद्भावं, वचनं दुस्ट रतो सदा ।
चिंतनं दुस्ट आनंदं, ते पारधी हिंसा नंदितं ॥ १२० ॥

जो दुष्ट भावों को सदा, देते क्रियात्मक स्थान हैं ।
जिनके मुखों से दुष्ट भावों के, निकलते बाण हैं ॥
जो दुष्ट भावों का ही करते हैं, निरंतर चिंतवन ।
वे घोर हिंसानंद मय, सब पारधी हैं विज्ञजन ॥

जो दुष्ट भावों को मान्य देता है; जिसके प्रत्येक कार्य दुष्टता से पूर्ण होते हैं तथा जो दुष्ट भावों के चिन्तवन में विशेष आनन्द लेता है, वह हिंसा के भावों से सना हुआ पुरुष, पारधी कहलाता है ।



विस्वासं पारधी दुस्टा, मन कूड वचन कूडयं ।
कर्मना कूड कर्तव्यं, पारधी दोष संजुत्तं ॥ १२१ ॥

जो दुष्ट, मन वच और क्रम से क्रूर हैं, अति क्रूर हैं ।
जो दुष्ट भावों की विषैली, वारुणी में चूर हैं ॥
ऐसे वधिक-दल का, सुनो ! विश्वास जिनने कर लिया ।
उनने समझ लो पारधी-भावों से अंतर भर लिया ॥

मन, वचन व कर्मों से दुष्ट पारधी, विश्वास देकर या लालच देकर, जिस तरह पशु पक्षियों को अपने जाल में फाँस लेता है, वैसे ही दुष्ट स्वभावी कुगुरु, भोले व अज्ञानी जनों को धर्म तथा स्वर्गादिक का लोभ अथवा सांसारिक वासनाओंकी पूर्ति का लालच बताकर, अपने माया जाल में फाँस लेता है। इससे उसमें पूर्णपने पारधी के दोषों का समावेश हो जाता है ।

जे जीव पंथ लागंते, कुपंथं जेन दिस्टते ।
विस्वासं दुस्ट संगानि, ते पारधी दुष दारुनं ॥ १२२ ॥

जो जीव को सत्पन्थ पर, लगने से नितप्रति रोकते ।
अपनी कुसँगति से जो, औरों को नरक में झोंकते ॥
जिनकी रगों में मात्र दिखते, कुपथ के ही कूप हैं ।
ऐसे भयंकर पारधी, प्रत्यक्ष भव-दुख-रूप हैं ॥

जो रास्ते से लगे हुए जीवों को, विश्वास दिलाकर अपनी दोषपूर्ण संगति से कुपंथ या विनाश के रास्ते में ले जाते हैं, ऐसे पारधी इस संसार में विकराल दुःखों के जीते जागते स्वरूप हुआ करते हैं।



संसार पारधी विस्वासं, जन्म मृत्युं च प्रापये ।
जे जीव अधर्म विस्वासं, ते पारधी जन्म जन्मयं ॥ १२३ ॥

जो पारधी के हृदय पर, करते अरे विश्वास हैं ।
वे जीव आवागमन का ही, मात्र पाते त्रास हैं ॥
पर जो अजान अधर्म पर, करते अरे! श्रद्धान हैं ।
वे पारधी बन बांधते नित, कर्म-बंध महान हैं ॥

पारधी के विश्वास में फंसनेवाले जीव (पशु पक्षी) तो एक ही बार के जन्म मरण का दुःख उठाते हैं, किन्तु जो मानव कुगुरु-पारधी के मायाजाल में फंस जाते हैं, वे जन्म जन्म के अर्थात् अनन्त जन्म मरण के दुःखों को भोगते हैं।

मुक्ति पंथं तत्व सार्द्धं च, लोका लोकं च लोकितं ।
पंथ भ्रस्ट अचेतस्य, विस्वासं जन्म जन्मयं ॥ १२४ ॥

शुद्धात्म का श्रद्धान क्या है ? मुक्तिश्री का द्वार है ।
यह तत्व तीनों लोक का, करता सुभग श्रृंगार है ॥
पर मूढ़ जन इस तत्व का, करते न किंचित् ध्यान हैं ।
जड़ पत्थरों के ही सतत्, गाते अधम वे गान हैं ॥

शुद्धात्मा का श्रद्धान क्या वस्तु है ? साक्षात् मुक्तिश्री या स्वाधीनता: जन्म मरण के बंधनों से स्वाधीनता का द्वार ! किन्तु अज्ञानी लोगों की समझ में यह बात नहीं आती । वे पथ भ्रष्ट मानव अचेतन देव, अदेवों पर देवपने का विश्वास करके जन्म जन्मान्तर पतन–कूप में गिरते रहते हैं ।



पारधी पासि जन्मस्य, अधर्मं पासि अनंतयं ।
जन्म जन्मं च दुस्टं च, प्राप्तं दुष दारुणं ॥ १२५ ॥

भव्यो ! अधिक तो, एक जीवन के लिये ही पाश है ।
पर यह अधर्म, अनन्त पाशों का दुखान्त निवास है ॥
यह दुष्ट इस संसार का, करता महा अपकार है ।
भव भव रुला देता उसे, यह त्रास अपरम्पार है ॥

जो दुष्ट हृदय वाला या पारधी होता है, वह तो एक जन्म के लिये ही पाश सिद्ध होता है, किन्तु हे मानवो ! यह अधर्म रूपी पारधी जन्म जन्मों के लिये बंधन रूप हो जाता है । संसार के प्राणियों को यह दुष्ट, अगणित समय तक दारुण से दारुणतम दुःख दिया करता है ।

जिन लिंगी तत्व वेदन्ते, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
कुलिंगी तत्व लोपंते, परपंचं धर्म उच्यते ॥ १२६ ॥

सर्वज्ञ-भाषित धर्म के जो, पूज्य साधु महान हैं ।
वे शुद्ध आत्मिक तत्व का ही, नित्य करते गान हैं ॥
पर जो कुलिंगी साधु हैं, वे आत्मतत्व न जानते ।
आडम्बरों को ही कि वे बस, पुण्य धर्म बखानते ॥

श्री वीतराग प्रभु के बताये हुए मार्ग पर चलने वाले जो साधु हैं, वे संसार में शुद्धात्म तत्व का ही प्रकाश करते हैं, किन्तु उनसे विपरीत मार्ग पर चलने वाले साधु शुद्धात्म तत्व को नगण्य ठहराकर उसका तो लोप कर देते हैं और बाह्याडम्बर को ही एकमात्र धर्म बतलाकर, उसका ही उपदेश जन-साधारण को देते हैं ।



ते लिंगी मूढ दिस्टी च, कुलिंगी विस्वासं कृतं ।
दुरबुद्धि पासि बंधंते, संसारे दुष दारुनं ॥ १२७ ॥

जो मूढ़ हैं; जिनको हिताहित का न कुछ भी ध्यान है ।
उनको कुलिंगी साधु पर, होता सहज श्रद्धान है ॥
उनके वही श्रद्धान बनते, स्वयं उनको पाश हैं ।
उपहार में वे मूढ़ पाते, नित भवोंभव त्रास हैं ॥

जो अज्ञान मूढ़दृष्टि पुरुष होते हैं, वे कुलिंगी या खोटे वेषधारी साधु पर विश्वास कर लेते हैं । फल यह होता है कि वे मतिमंद अपनी भेद-विज्ञान शून्यता के कारण अपनी ही दुर्बुद्धि के पाश में बंधकर संसार में नाना भाँति के दुःख उठाते फिरते हैं ।

पारधी पामि मुक्तस्य, जिन उक्तं सार्थं धुवं ।
सुद्ध तत्व च सार्द्धं च, अप्प सद्भाव चिन्हितं ॥१२८॥

सर्वज्ञ भाषित धर्म पर, श्रद्धान जिसको आ गया ।
'शुद्धात्म ही तत्त्वार्थ है', जो यह अतुल निधि पा गया ॥
वह पारधी के जाल में, फिर और रह पाता नहीं ।
अपने परों को तौल कर, वह विहग उड़ जाता वहीं ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान ने जिसका महत्व संसार को समझाया है, उस शुद्ध सत्तात्मक भाव से ओत प्रोत शुद्धात्मा पर श्रद्धान लाकर जो उसका पुजारी बन जाता है, वह अधर्मरूपी पारधियों के या स्वयं पारधियों के जाल में फिर और नहीं रह पाता है; तुरन्त ही उनके फन्दे से उसकी मुक्ति हो जाती है।



चौर्य कर्म

अस्तेयं अनर्थ मूलस्य, विटंवं असुह उच्यते ।
संसारे दुष सद्भावं, अस्तेयं दुर्गति भाजनं ॥१२९॥

चोरी, सुनो हे भव्यजन, आपत्तियों का मूल है ।
करती विकल परिणाम, यह उर का खटकता शूल है ॥
इस लोक में तो यह पिलाती है, दुखों की प्यालियाँ ।
उस लोक में भी पर दिखाती, यह कुगति की नालियाँ ॥

चोरी सारे अनर्थों की मूल हुआ करती है; हृदय को आकुलता रूप परिणामों से यह भर देती है; अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने में इसका प्रमुख हाथ रहता है। जब तक मनुष्य जीता है, तब तक तो उसे संसार सागर में यह अनेकों दुःख देकर रुलाती है और उसके अनंतर परलोक में यह उसे नीच से नीच गति का पात्र बनाती है।

मनस्य चिंतनं कृत्वा, अतेस्यं दुर्गति भावना ।
कृतं असुद्ध कर्मस्य, कूड भाव रतो सदा ॥१३०॥

चोरी करूँगा आज मैं, इस भाँति करना चिन्तवन ।
हे भव्य ! यह दुर्भावना, करती है दुर्गति का सृजन ॥
जो इस अशुभतम कर्म में, रहते सदा लवलीन हैं ।
उनके हृदय छल कपट से, रहते सदैव मलीन हैं ॥

सिर्फ इतना ही चिंतवन करना कि मुझे आज चोरी करना चाहिये या मैं आज चोरी करूँगा, चौर्य नामक महान दोप हो जाता है जो मनुष्य को दुर्गति का पात्र बना देता है। जो मनुष्य इस दुष्कर्म में सदा ही लवलीन रहा करते हैं, उनके हृदय क्रूर भावनाओं से या छल कपट से ओत प्रोत हो जाते हैं।



अतेस्यं अदत्तं चिंते, वयनं असुद्धं सदा ।
हीनकृत कूड भावस्य, अस्तेयं दुर्गति कारणं ॥१३१॥

जो चौर्य या कि अदत्त जड़ का, नेक करते चिन्तवन ।
उनके नियम से, अशुभ हो जाते हृदस्तल के वचन ॥
माया कपट में बीतता, उनका सदा ही काल है ।
यह चौर्य दुर्गति हेतु है, यह चौर्य काल कराल है ॥

बिना दी हुई किसी चीज को ले लेने का चिंतवन करना, यह भी चौर्य दोप ही है — इस प्रकार की चोरी करने से मनुष्य के आलाप-प्रलाप में विकार आ जाता है और वह मनुष्य कटु भाषी बन जाता है। चौर्य एक महान नीचकर्म है। इसको करने वाला मनुष्य छलकपटी और कूटकर्मी हो जाता है और अन्त में जाकर दुर्गतियों में धूल छानता है।

अस्तेयं दुस्ट प्रोक्तं च, जिन वयन विलोपितं ।
अर्थं अनर्थं उत्पाद्यंते, स्तेयं व्रत खंडनं ॥१३२॥

कटु क्रूर वचनालाप करना, चौर्य दोष महान है ।
जिन वचन का आलोप यह भी, चौर्य है, असमान है ॥
कुछ अर्थ का कुछ अर्थ करना, यह भी चौर्य स्तेय है ।
करना व्रतों का भंग यह भी, एक चोरी हेय है ॥

दूसरे की चीज चुरा लेना, इतने ही से चोरी का आशय पूरा नहीं हो जाता। कटु वचन बोलना: वीतराग ने जो वचन कहे हैं, उनको लुप्त कर देना; अर्थ का अनथ करना और व्रत लेकर उसे भंग कर देना, ये सब चोरी के ही लक्षण हैं।



सर्वन्य मुख वानी च, सुद्ध तत्व समाचरेत् ।
जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, अस्तेयं दुर्गति भाजनं ॥१३३॥

सर्वज्ञ ने शुद्धात्म की रे, जो बहाई धार है ।
नर कर उसी में तू रमण, वह ही तुझे सुखसार है ॥
जो जिन वचन का लोपकर, प्रतिकूल उनके जायेगा ।
वह चौर्य के कटु पाश में, बँधकर कुगतियें पायेगा ॥

सर्वज्ञ ने अपने मुख-कमल से जिस शुद्ध आत्मतत्व का प्राक्कथन किया है, हे प्राणियो ! तुम उसी में रमण करो। जितेन्द्रिय भगवान के वाक्यों को लुप्तकर जो उनके प्रतिकूल कार्य करेगा, वह चौर्य का भाजन बनकर दुर्गति का पात्र बनेगा।

दर्सन न्यान चारित्रं, मय मूर्त न्यान संजुतं ।
सुद्धात्मा तत्व लोपंते, अतेस्यं दुर्गति भाजनं ॥१३४॥

निर्मूर्त रत्नत्रय मयी, जो शुद्ध आत्मिक धर्म है ।
उस धर्म का जो लोप कर, करता महा दुष्कर्म है ॥
वह चौर्य के कटु बंधनों से, बाँधता निज गात्र है ।
संसार में बनता कि वह, नाना कुगति का पात्र है ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्ण जो निष्कल, निराकार आत्मा है, जो उसका लोपकर. संसार को जड़-पूजा सिखाता है, वह पुरुष चौर्य का पात्र बनकर अनेक दुर्गतियों में भ्रमण करता है।



परस्त्री - रमण

परदारा रतो भावं, परपंचं कृतं सदा ।
ममतं असुद्ध भावस्य, आलापं कूड उच्यते ॥१३५॥

जो नर परस्त्री–रमण के, कटु भाव में आसक्त हैं ।
वे नियम से रहते प्रपंचों से, सदा संयुक्त हैं ॥
उनके हृदय क्या ? मोह के होते विशद भण्डार हैं ।
वचनावली में छल कपट की नित्य बहतीं धार हैं ॥

जो परस्त्री-रमण के भावों में रत रहता है, वह पुरुष निश्चय से सांसारिक प्रपंचों में फंसा हुआ होता है; उसका हृदय अशुद्ध भावों से पूर्ण मोह का एक विशाल आगार होता है और उसके मुख से जितने भी शब्द निकलते हैं वे रंचमात्र भी छल कपट से रिक्त नहीं होते। सारांश यह कि परस्त्रीगामी पुरुष प्रपंच, मोह और छल, कपट आदि नाना दुर्गुणों से पूर्ण होता है।

अबंभं कूड सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते ।
ते नरा व्रत हीनस्य, संसारे दुष दारुनं ॥१३६॥

अब्रह्म मन, वच में सृजन, करता है मायाचारिता ।
सद्भावनाओं की बना देता, हृदय में वह चिता ॥
सेवा सतत अब्रह्म की, करते अरे जो मूढ़ हैं ।
वे जीव शूलों से भरे, भव-मार्ग पर आरूढ़ हैं ॥

अब्रह्म या परस्त्री-रमण मन और वचन दोनों में छल कपट के भाव पैदा कर देता है। जो इस कुशील का आचरण करते हैं, वे पुरुष सारे व्रतों को पालते हुए भी, निरे व्रतहीन हैं और इस दुर्गुण के परिणामस्वरूप संसार-सागर में अनेकों भयंकर दुःख उठाते हैं।



कषायं जेन विकहस्य, चक्र इन्द्र नराधिपा ।
भावनं तत्र तिस्टंते, पर दारा रतो नरा ॥१३७॥

जिस विषयलोलुप जीव की, परनारि में आसक्ति है ।
विकथाजनित आनन्द में, रहता मगन वह व्यक्ति है ॥
वह सोचता है "प्राप्त हो जो, हमें नृप की सम्पदा ।
तो हम भी राजाओं सरीखा, भोग मृदु भोगें सदा" ॥

जो पुरुष परस्त्री-रमण के भावों में आसक्त रहता है, वह विकथाजनित आनन्दों में अत्यधिक रस लेता हुआ दिखाई देता है। कषायों का तो वह दास बन जाता है। लोभ की मात्रा उसमें इतनी बढ़ जाती है कि वह सोचता रहता है कि अगर मुझे चक्रवर्ती, इन्द्र या किसी नरेश की सम्पदा प्राप्त हो जावे तो मैं अनेकों भोगों को भोगूं और समृद्धि से रहकर अपना जीवन, पूर्ण ऐश्वर्य-विलास में व्यतीत करूँ।

काम कथा च वर्त्तंतं, वचनं आलाप रंजनं ।
ते नरा दुष माहंते, पर दारा रतो सदा ॥१३८॥

जो नित निरन्तर काम की संवर्द्धिनी विकथा कहें ।
जो नर निरन्तर विषय, चर्चा ही में आनंदित रहें ॥
ऐसे पुरुष, रखते पर-स्त्री--रमण की जो भावना ।
संसार--अटवी में निरन्तर, दुःख सहते हैं घना ॥

जो परस्त्री रमण के भावों में आसक्ति रखते हैं, विषयभोग की कहानियों को बहुत ही आनन्द और प्रेम के साथ सुनते हैं तथा काम-भावना को बढ़ाने वाले वचनों में मगन रहते हैं, वे पुरुष इस संसार समुद्र में विविध भांति के दुःख सहा करते हैं।



विकहा अश्रुत प्रोक्तं च, कामार्थ श्रुत उत्तयं ।
श्रुतं अन्यान मयं मूढं व्रत षंड दार रंजितं ॥१३९॥

विकथा मयी श्रुति का सुनाना, यह कुशील महान है ।
कामोत्पादक शास्त्र पाठन भी कुशील समान है ॥
रमना कुशास्त्रों में अरे, यह भी कुशील कराल है ।
व्रत खण्ड करना भी कुशील, अब्रह्म है, विकराल है ॥

परस्त्री सेवन केवल कुशील को ही व्यक्त नहीं करना। विकथा से भरे हुए, विषय भोगों से पूर्ण तथा काम को उत्पन्न करने वाले व अज्ञानता से सने हुए इन सब शास्त्रों का जनसाधारण के बीच कथन करना यह भी परस्त्री गमन के समान दोषहै। लिये हुए व्रतों को भंग कर देना, इसमें भी वही पाप लगता है जो कुशील सेवन में।

परिणामं जस्य विचलंते, विभ्रमं रूप चिंतनं ।
आलापं श्रुत आनंदं, विकहा पर दार सेवनं ॥१४०॥

विकथा-कथन से चलित, हो जाते हृदय परिणाम हैं ।
होते हैं विभ्रम के ही इससे, दर्श आठों याम हैं ॥
कामादि के कुश्रुत सुना, यह सजग करती काम है ।
इससे ही विकथा को दिया, 'परदार-सेवन' नाम है ॥

विकथाओं का श्रवण करना कुशील सेवन के समान क्यों ? इसीलिये कि विकथाओं को सुनने से आत्मा के परिणाम चलविचल हो जाते हैं; वस्तुस्वरूप को भूलकर पुरुष विभ्रम में पड़ जाता है और उसका ध्यान काम संवर्द्धक कथाओं की ओर आकृष्ट हो जाता है । ये सारी बातें अब्रह्म में सन्निहित हैं और कुशील का ही दूसरा नाम अब्रह्म है ।



मनादि काय विचलंति, इन्द्रिय विषय रंजितं ।
व्रत खंड सर्व धर्मस्य, अनृत अचेत सार्द्धयं ॥१४१॥

विकथा-कथन से चलित हो जाते सुज्ञान ! त्रियोग हैं ।
पाते हैं इससे वृद्धि ही, नित भोग रूपी रोग हैं ॥
व्रत खंड कर भरती हृदय में, यह अरे ! कुज्ञान है ।
जड़वाद में करती नियम से, यह अमिट श्रद्धान है ॥

विकथाओं के कहने सुनने से मन, वचन, कायों के परिणाम विचलित हो जाते हैं और मनुष्य इन्द्रियों के विषय भोगों में मत्त हो जाता है । विकथाएं मनुष्य के सारे व्रतों व धर्मों को पल भर में खंडित कर देती हैं और इसके श्रोता व वक्ता नियम से अनृत व अचेत पदार्थों में श्रद्धा करने लग जाते हैं ।

विषयं रंजितं जेन, अनृतानंद संजुतं ।
पुन्य सद्भाव उत्पादंते, दोषे आनंदनं कृतं ॥१४२॥

जो नर विषय-भोगादि को ही, मानते सुखसार हैं ।
वे मृषानंदी रौद्र के, होते नियम से द्वार हैं ॥
बस पुण्य--संचय में लगाते, वे हमेशा शक्ति हैं ।
इस भाँति भव से ही बढ़ाते, नित्य प्रति आसक्ति हैं ॥

जो मनुष्य विषय भोगों में ही आनन्द लेते हैं, वे मृषानंदी रौद्रध्यान के निश्चय से चिन्तवन करने वाले हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य इस विचार से कि अगर हम दान पुण्य वगैरह प्रचुर मात्रा में करेंगे तो उस जन्म में भी हमें अगणित भोग प्राप्त होंगे, बहुत से पुण्य के काय किया‌ह करते हैं और इस तर संसार के बंधनरूप दोषों में ही रंजायमान होते रहते हैं।



अष्ट मदों में आसक्ति

एतानि राग संबंधं, मद अस्टं रमते सदा ।
ममत्वं असत्य आनंदं, मदष्टं नरयं पतं ॥१४३॥

जो मूढ़ नर, अब्रह्म के, सातों व्यसन के कुण्ड हैं ।
उनमें विचरते नियम से, आठों मदों के झुण्ड हैं ॥
वह जड़ ममत्व असत्य को ही, मानता सुखमूल है ।
पाकर अधोगति, नर्क की वह छानता नित धूल है ॥

जो मनुष्य निरन्तर व्यसनों के उद्यान में क्रीड़ा किया करता है, वह आठ मदों का शरणस्थल बन ही जाता है—आठ मद आकर उसके हृदय में घर बना ही लेते हैं। मदों के चक्कर में पड़कर वह जगत के पदार्थों में और असत्य वस्तुओं में झूठा आनन्द मानता रहता है और एकदिन नर्क का महापात्र बन जाता है।

अमत्यं असास्वतं रागं, परपंचं रतो सदा ।
सरीरे राग वृद्धन्ते, ते नरा दुर्गति भाजनं ॥१४४॥

मिथ्या, अशाश्वत राग में, उत्साह से करना रमण ।
उस राग के ही बाग में, होकर मुदित करना भ्रमण ॥
यह राग, सुन उत्पन्न करता, मोह का संसार है ।
जो नियम से होता, अशुभ गति का भयंकर द्वार है ॥

असत्य और नश्वर पदार्थों में मोह करना; उनमें प्रतिपल उत्तरोत्तर उत्साह के साथ रमण करना शरीर में राग पैदा करने का प्रबल कारण होता है, और शरीर की आसक्ति एक न एक दिन मनुष्य को दुर्गति का पात्र बनाती ही है ।



जाति कुल सुरूपं च, अधिकारं न्यान तपं बलं ।
बलं सिल्प आरूढं, मद अस्टं संसार भाजनं ॥१४५॥

माता मेरी विदुषी, पिता बलवीर, मैं धनवान हूँ ।
मैं काम की प्रतिमूर्ति हूँ, मैं एक सत्तावान हूँ ॥
मैं तापसी, मैं शूर, मेरा ज्ञान-कुण्ड अथाह है ।
यह अष्ट-मद दल ही, अरे संसार की कटु राह है ॥

अपनी माता के पक्ष का, अपने पिता के पक्ष का, अपने धन का, सुन्दर रूप का, अपने अधिकारों या सत्ता का, तपोबल का, शरीर बल का और शिल्पादि विद्याओं के ज्ञान का मद ये आठ प्रकार के मद, मनुष्य को संसार-सागर में बार बार डुबाने वाले हुआ करते हैं ।

जातिं च राग मयं, अनृतं नृत उच्यते।
ममत्वं असूनेह आनंद, कुल आरूढं रतो सदा ॥१४६॥

जो जीव माता पक्ष का, करता वृथा अभिमान है ।
वह नर मृषा को सत्य कह, करता अनर्गल गान है ॥
जो नर पिता के पक्ष से, बनता अरे कुलवान है ।
उसका कुममता-कीच में ही, फंसा रहता ध्यान है ॥

जो मनुष्य अपनी जाति का या अपनी माता के पक्ष का अभिमान करता है, वह व्यर्थ एक मिथ्या वस्तु को सत्य कह कह कर पुकारता है। अपने पिता के पक्ष का या अपने कुल का जो पुरुष घमंड करता है, वह सिर्फ अपने कुटुम्बियों के ममत्व और झूठे स्नेह में फंसता है, और कुछ नहीं।



रूपं अधिकार दिस्टा, रागं वृद्धंति जे नरा।
ते अन्यान मयं मूढा, संसारे दुष दारुनं ॥१४७॥

निज रूप या अधिकार को, जो देखकर कहते "अहा!
हम भी हैं कितने भाग्यशाली, सम्पदा पाई महा" ॥
यह राग है! यह राग रूपी, जो पकड़ते व्याल हैं ।
वे जीव नित संसार में, दुख भोगते विकराल हैं ॥

अपने रूप या अधिकार को देखकर, जो पुरुष फूले नहीं समाते और उन्मत्त बनकर व्यर्थ का राग संचय करते हैं, वे अज्ञान से आवृत, महामूर्ख इस दारुण दुःख के घर संसार में अनंत समय तक भटकते रहते हैं और भयावने कष्ट पाते रहते हैं।

कुन्यानं तप तपानं, राग वर्द्धन्ति ते तपा।
ते तानि मूढ सद्भावं, अज्ञानं तप श्रुत क्रिया ॥१४८॥

जो तप्त रहते मूढ़ नर, कुज्ञान-तप में ही सदा।
वे राग-भावों की कमाते, सतत खोटी सम्पदा॥
सत्भाव के बदले, कुभावों की वे करते हैं क्रिया।
अर्थात् वे कुश्रुत, कुतप, कुक्रिया से भरते हिया।

कुज्ञान रूप तपस्या करने से कुछ हस्तगत नहीं होता, केवल संसार में परिभ्रमण कराने वाले रागों का बंधन ही प्राप्त होता है। जो मनुष्य मूढ़तावश उक्त प्रकार का आचरण करते हैं, वे कुक्रिया करते हैं, कुशास्त्र सुनते हैं और कुतप तपकर अपना समय नष्ट करते हैं।

अनेय तप तपानं, जन्मनं कोड कोडभि।
श्रुतं अनेय जानंते, राग मूढ़ मयं सदा ॥१४९॥

अज्ञान तप तप देह को, जो जड़ बनाते क्षार हैं।
वे जीव जीवन में बसाते, कोटिशः संसार हैं॥
यह सत्य हो सकता है, वे जानें सहस्रों शास्त्र हैं।
पर लिप्त रहते राग से, उनके हृदय के पात्र हैं॥

जो अज्ञान से आच्छादित या आत्मानुभव रहित तप तपते हैं, वे पुरुष इस संसार में करोड़ों जन्म मरण प्राप्त कर कठिन से कठिन दुःख भोगते हैं। अनेकों वेद शास्त्रों के पाठी होते हुए भी, अज्ञान तिमिर में वे इतने जकड़े हुए रहते हैं, कि राग उनके हृदय से दूर ही नहीं होता है।

मानं राग संबंधं, तप दारुनं नंतं श्रुतं।
सुद्धतत्वं न पस्यंति, ममतं दुर्गति भाजनं ॥१५०॥

जो कुतप तपता, उसे हो जाता भयंकर मान है ।
वह समझने लगता है वह तो एक साधु महान है ॥
शुद्धात्म को विस्मृत बना, पर मोह में वह घूमता ।
उस मोह के ही चक्र में फंस, वह कुगतियें चूमता ॥

जो मनुष्य कुतपश्चर्या करता है, उसे अत्यधिक मान हो जाता है और वह समझने लगता है कि हम तो बड़े भारी तपस्वी हैं। आत्मानुभव में शून्यता होने के कारण उसे अपने स्वरूप का किंचित भी दिग्दर्शन नहीं हो पाता है; संसार के ममत्व में ही वह फंसा रहता है और अंततोगत्वा वह महान दुर्गतियों का पात्र बनता है।



चार कषायों में प्रवृत्ति

कषायं जेन अनंतानं, रागं च अनृतं कृतं ।
विस्वासं दुर्बुद्धि चिंते, ते नरा दुर्गति भाजनं ॥१५१॥

मिथ्यात्व-संगिनि कषायों का, जिन हृदय में वास है ।
मिथ्यात्व पद का बन चुका जो नर सदा को दास है ॥
उसके हृदय में नित्य ही, कुज्ञान करता है रमण ।
वह जीव, अघट तुल्य, दुर्गति में सदा करता भ्रमण ॥

संसार जनित राग के कारण उत्पन्न हुई, अनंतानुबंधी कषायों का जिनके हृदय में वास रहता है, वे मनुष्य मिथ्याज्ञान में विश्वास करने लग जाते हैं और उसके परिणामस्वरूप दुर्गति के अवश्यंभावी पात्र बनते हैं ।

लोभ

लोभं अनृतं सद्भावं, उत्साहं अनृतं कृतं ।
तस्य लोभं प्राप्तं च, तं लोभं नरयं पतं ॥१५२॥

यह लोभ करता है सृजन, रे ! अनृत का संसार है ।
मिथ्यात्व का करता, निठुर जो हृदय में संचार है ॥
इस भांति का जो लोभ है, होता नहीं उसका शमन ।
वह नियम से निज पात्र का, करता नरक में है पतन ॥

जिसका हृदय लोभ का भण्डार होता है, वह अपने प्रति कार्यों से मिथ्यात्व का संसार सृजन किया करता है और अंतर से मिथ्यात्व-जनित कार्य करने में प्रोत्साहन पाया करता है। ऐसे लोभी पुरुष के लोभ की ज्वाला कभी भी शान्त नहीं होती और वह नियम से नर्क का पात्र बनता है।



लोभं कुन्यान सद्भावं, अनाद्यं भ्रमते सदा ।
अति लोभ चिंतते येन, लोभं दुर्गति कारनं ॥१५३॥

यह लोभ ही, हे भव्यजन. कुज्ञान का आधार है ।
जिसका शरण ले नर सदा से, छानता संसार है ॥
लोभी असत्य पदार्थ में ही नित्य करता है रमण ।
इस ही लिये वह मूढ़ नर, करता है दुर्गति में भ्रमण ॥

जिसके कारण यह प्राणी अनादिकाल से संसार की धूल छान रहा है, उस मिथ्यात्व को या मिथ्याज्ञान को, यह लोभ ही इस संसार पर अवतीर्ण करता है। इस लोभ के कारण ही यह मनुष्य असत्य और अचेतन पदार्थ का चिंतवन किया करता है। मनुष्य जितनी भी दुर्गतियें पाता है, सब इसी दुष्ट लोभ के कारण ।

अशास्वतं लोभ कृत्वं च, अनेक कष्ट कृतं सदा ।
चेतना लष्यनो हीना, लोभं दुर्गति बंधनं ।।१५४।।

जग की अशाश्वत वस्तुओं की नित्य करते भावना ।
इस जीव ने संसार--वन में, दुःख पाया है घना ।।
यह खेद है, चैतन्य से जो पूर्ण पुरुष प्रवीण है ।
वह दुष्ट दुर्गति--हेतु इक जड़, लोभ के आधीन है ।।

अनित्य और अशाश्वत पदार्थों का चिंतवन करते करते ही, इस मनुष्य ने अगणित समय तक इस संसार वन में दुःख उठाया है। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि एक चेतन सी अनंत शक्ति का धारी पुरुष, एक तुच्छ लोभ से अचेतन पदार्थ के वश में होकर, विविध दुर्गतियों में मर्कट के समान नाच रहा है।



मान

मानं अमत्य रागं च, हिंसानंदी च दारुनं ।
परपंचं चिंतते येन, सुद्ध तत्वं न पस्यते ।।१५५।।

मिथ्यात्व में कटु राग से, होता सृजन जो मान है ।
उसमें बना रहता सदा, हिंसामयी ही ध्यान है ।।
मानी, प्रपंचों के रचा करता है, बस फंदे सदा ।
मिलती कभी शुद्धात्म की, उसको नहीं सुख-सम्पदा ।।

मिथ्या पदार्थों में जो राग होता है, उसी के कारण मान का प्रादुर्भाव हुआ करता है। मान के होने से हृदय में सदा हिंसानंदी रौद्र ध्यान बना रहता है। इसका पात्र सांसारिक प्रपंचों में ही पड़ा रहता है और जो सारभूत शुद्धात्म तत्व है उस पदार्थ का उसे स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता है।

मानं असास्वतं कृत्वा, अनृतं राग नंदितं ।
असत्यं आनंद मूढस्य, रौद्र ध्यानं च संजुतं ॥१५६॥

यह मान का जो कूट है, वह क्या ? नितांत असत्य है ।
वह एक झूठा राग है, उसमें न कुछ भी तथ्य है ॥
अविवेकियों के हृदय का, वह एक मिथ्यानन्द है ।
जो रौद्र-वर्णों से गठित है, एक यह वह छन्द है ॥

मान क्या है ? अशाश्वत, अकिंचन और झूठे रागों से बना हुआ, एक वह असत्य पदार्थ. जिस पर असवार होने में सिर्फ मूर्खों को ही आनन्द आता है; रौद्र ध्यान जिसमें निश्चयात्मक रूप से निवास करता है अर्थात् जिसके हृदय में प्रवेश करते ही मनुष्य के रौद्र परिणाम हो जाते हैं ।



मानं पुन्य उत्पाद्यंते, दुर्बुद्धि अन्यानं श्रुतं ।
मिथ्या माया मूढ़ दिस्टी च, अन्यान रूपी न संसयः ॥१५७॥

जो मूढ़ होते मानके, मद के घिनौने पात्र हैं ।
वे ज्ञान--मद में चूर हो, रचते अनोखे शास्त्र हैं ॥
ये शास्त्र क्या ? मिथ्यात्व के होते निरे आगार हैं ।
अज्ञान की जिनमें बहा करतीं, अशुचितम धार हैं ॥

जो मानी पुरुष होता है, वह अपने को एक प्रकाण्ड विद्वान और शास्त्रीय विषयों का ज्ञाता समझा करता है और उस नशे में वह अनेकों शास्त्रों की रचना कर डालता है। ये शास्त्र, जिन्हें कि मानी जीव अपनी लेखनी से लिखता है, निरी कुमति से भरे हुए, मिथ्या मायाचार से पूर्ण और अज्ञान के साक्षात् स्वरूप होते हैं ।

मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धि, बुद्धि हीनो न संसयः ।
अनृतं ऋतं जानंते, दुर्गति पस्यति ते नरा ॥१५८॥

वे जीव ही, अविवेकियों के जो अरे ! शिरमौर हैं ।
इस मान रूपी दुष्ट को, देते हृदय में ठौर हैं ॥
वे अनृत में भी सत्य के, करते निरन्तर दर्श हैं ।
मिथ्यात्व बंधन बांध, करते नर्क में अपकर्ष हैं ॥

इस मान को अपने हृदय में वे ही पुरुष स्थान देते हैं, जो बुद्धि से बिलकुल रिक्त होते हैं अर्थात जिनमें लेशमात्र भी विवेक बुद्धि नहीं होती। वे पुरुष मिथ्या वस्तु में ही सत्य के दर्शन किया करते हैं और इसी से अनेकों दुर्गतियों में वे पुरुष मर्कट के समान घूमते रहते हैं।



मान बंधं च रागं च, अर्थ विचिंतनं संतयं ।
हिंसानंदी च दोषं च, अनृतं उत्साहं कृतं ॥१५९॥

जिनके अशुभ अन्तस्तलों में, वास करता मान है ।
पर द्रव्य हरने में ही रहता, नित्य उनका ध्यान है ॥
वे जीव हिंसा, चौर्य से ले, संग में अंतर सने ।
गिरकर कुगति के कूप में, सहते हैं दुःख भयावने ॥

जिनकी आत्मा मान के बंधनों से बंध जाती है, वे पर द्रव्य को किस तरह हरण किया जाय, सदा इसी चिनवन में पड़े रहते हैं। इस दुष्कर्म की चिन्ता उन्हें हिंसानंदी और चौर्यानन्दी रौद्रध्यानी बना देती है, जिसके फलस्वरूप उन्हें अनेक दुर्गतियों में जन्म लेने पर विवश होना पड़ता है।

मानं राग संबंधं, तप दारुनं नंतं श्रुतं ।
अनृतं अचेत सद्भावं, कुन्यानं संसार भाजनं ॥१६०॥

कितने कठिन तप का ही, मानी जीव क्यों न निधान हो ?
कितनी ही श्रुतियों का भरा, उसमें न क्यों विज्ञान हो ?
होती न पर उससे विलग, मिथ्यात्व की वह धार है ।
कुज्ञान से जो पूर्ण है, संसार की आधार है ॥

जिसके हृदय में मान के चरण पड़ जाते हैं, वह अनेकों दारुण तपों को करता हुआ और संसार भर की श्रुतियों का पाठी होते हुये भी, मिथ्याज्ञानी व अज्ञानी ही बना रहता है और उस कुज्ञान के कारण बार बार संसार का पात्र बना करता है।



माया

माया असत्य रागं च, असास्वतं जल विंदुवत् ।
धन यौवन अभ्र पटलस्य, माया बंधन किं करोति ॥१६१॥

माया है क्या, यह उस जगत से एक झूठा राग है ।
जल-बुदबुदों के तुल्य रे, जिसका अनित्य सुहाग है ॥
यौवन अशाश्वत है, अनृत है, जलद-पटल समान है ।
आश्चर्य माया-जाल में क्यों, फंस रहा अज्ञान है ?

माया क्या वस्तु है ? असत्य रागों की एक भूधराकार राशि ! वह क्षणभंगुर वस्तु, जिसका सुहाग जल के बुदबुदों के समान पल भर में नाश हो जाने वाला है। और जिस यौवन की पूर्ति के लिये यह मायाजाल रचा जाता है वह ? वह भी अनित्य ! पावस में उठने वाली घनघोर घटाओं सा अनित्य ! फिर यह मूर्ख मनुष्य क्यों और किस लिये इस सब पाप की उधेड़बुन में फंसा हुआ है ?

माया असुद्ध परिणामं, असास्वतं मंग संगते ।
दुस्ट नस्टं च सद्भावं, माया दुर्गति कारनं ॥१६२॥

नश्वर परिग्रह सृजन करता, जो मलिन परिणाम है ।
उस अशुभतम परिणाम के, दल का ही 'माया' नाम है ॥
उत्पन्न करती है यह माया, रे अनिष्ट स्वभाव है ।
होता है दुर्गति में अरे, जिस हेतु से सद्भाव है ॥

इस नश्वरशील परिग्रह के कारण जो अशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं, उन परिणामों के समूह को ही 'माया' कहते हैं। यह दुष्ट माया हृदय में अनिष्ट स्वभाव उत्पन्न किया करती है, जिसमें मनुष्य को बारंबार दुर्गतियों में जन्म लेना पड़ता है।



माया अनंतानं कृत्वा, असत्ये राग रतो सदा ।
मन वचन काय कर्तव्यं, माया नंदी च ते जड़ा ॥१६३॥

जो जीव मायाचार में, रहता सदा आसक्त है ।
मिथ्यात्व का वह मूढ़ बन जाता, निसंशय भक्त है ॥
मन के, वचन के, काम के कर्तव्य से धो करथली ।
मायात्व में ही चूर रहता, है निरंतर वह छली ॥

जो मनुष्य अनन्तानुबंधी माया किया करता है, वह निश्चय से असत्य रागों में आसक्त हो जाता है; अपने मन, वचन और कर्म से किये जाने योग्य कार्यों को वह बिलकुल विस्मृत कर बैठता है और दिन रात मायाचार करने में ही आनन्द लेता रहता है।

माया आनंद संजुक्तं, अनृतं अचेत भावनं ।
मन वचन काय कर्तव्यं, दुर्बुद्धि विस्वास दारुनं ॥१६४॥

जिस जीव का संसार केवल, एक मायाचार है ।
मिलता उसे मिथ्यात्व में ही, हर्ष अपरम्पार है ॥
मन, वचन, क्रम के योग्य, इस संसार में जो कर्म है ।
उनसे विमुख हो वह कुमति, करता सदैव अधर्म है ॥

जो प्राणी मायात्व में ही जीवन का आनन्द मानता है, वह अनृत और अचेत भावनाओं का निश्चल पुजारी बन जाता है। मन वचन और कर्म से किये जाने योग्य कार्यों से विमुख होकर, वह मूढ़ प्राणी कुबुद्धियों में विश्वास करता हुआ सदा दारुण अधर्मपूर्ण कर्म किया करता है।



माया अचेत पुन्यार्थं, पाप कर्मं च वृद्धते ।
सुद्ध दिस्टि न पस्यंते, मिथ्या माया नरयं पतं ॥१६५॥

जो पुण्य कर्मों में भी करता, मूढ़ मायाचार है ।
वह नर बढ़ाता बस समझ लो, पाप का संसार है ॥
जो शुद्ध आत्मिक तत्व का, करता नहीं है चिन्तवन ।
वह अधम, मायावी नियम से, नर्क में करता गमन ॥

जो अचेत पुरुष पुण्य कार्यों में भी मायाचारी का प्रदर्शन करता है, वह अपने संचित कर्मों में पाप का एक हिस्सा और बढ़ा लेता है। सारभूत शुद्धात्म तत्व क्या है, इस तथ्य को वह मंदमति जीवन भर भी न जान पाता है और अपनी मायाचारिता के परिणामस्वरूप नर्क में अपना पतन कर लेता है।

क्रोध

कोहाग्नि असास्वतं प्रोक्तं, सरीरे मान बंधनं ।
असास्वतं तस्य उत्पाद्यन्ते, कोहाग्नि धर्म लोपनं ॥१६६॥

नर के अशुचि तन में बसा, जो मान शत्रु महान है ।
क्रोधाग्नि में नित प्रति, भरा करता अरे ! वह प्राण है ॥
क्रोधाग्नि करती है सृजन, सुन ! दुख भरा संसार है ।
प्रिय धर्म-मणि को वह, बना देती क्षणों में क्षार है ॥

शरीर में जो मान रूपी शत्रु निवास करता है, वह क्रोधाग्नि को हमेशा प्रज्वलित बनाता रहता है। इस क्रोधाग्नि से क्या उत्पन्न होता है ? अशाश्वत और अनिष्ट वस्तुएं अर्थात् वे वस्तुएं, जो आत्मा के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल हैं। धर्मरत्न इस क्रोधाग्नि में गिर पड़ता है और गिरकर क्षार हो जाता है।



एतत् भावनं कृत्वा, अधर्मं तस्य पस्यते ।
रागादि मल संजुक्तं, अधर्मं सु संगीयते ॥१६७॥

जिस ठौर व्यसन, कषाय, मद के यूथ का सहवास है ।
उस ठौर, निश्चय समझ लो, करता अधर्म निवास है ॥
रागादि-मल से युक्त दोषों का, जहाँ संसार हो ।
उस ठौर फिर कैसे, अधर्म-पिशाच का न विहार हो ?

जहां पर व्यसन, कषाय और मदों के झुंड विचरते हैं, वहां पर निश्चय से ही अधर्म निवास करता है। जहाँ रागादि मलों का भंडार हो, केवल वहीं तो अधर्म का अड्डा रहा करता है।

अन्तरात्मा के कार्य

धर्म ध्यान की साधना

सुद्ध धर्म च प्रोक्तं च, चेतना लक्षनो सदा ।
सुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्म कर्म विमुक्तयं ॥१६८॥

जो वस्तु जग में 'धर्म' इस शुभ नाम से विख्यात है ।
वह आत्मा के ज्ञान, गुण, चैतन्य से ही व्याप्त है ॥
द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा, धर्म का यह रूप है ।
'शुद्धात्मा ही धर्म है, जो कर्मशून्य, अरूप है' ॥

जो चैतन्य आदिक लक्षणों से मंडित हो और जो सर्व प्रकार के कर्मों से रहित हो, शुद्ध द्रव्य दृष्टि से या निश्चयनय से संसार में वही एक शुद्ध धर्म है ।



धर्मं च आत्म धर्मं च, रत्नत्रय मयं सदा ।
चेतना लक्षनो जेन, ते धर्म कर्म विमुक्तयं ॥१६९॥

यदि कोई जग में धर्म है, तो एक आतम धर्म है ।
सद्प्राप्ति में जिसके न आवश्यक, कोई भी कर्म है ॥
इस आत्मिक सद्धर्म में रे ! ज्ञान--सिंधु अथाह है ।
यह आत्मिक--सद्धर्म ही, चिर सुख--सदन की राह है ॥

यदि संसार में कोई शुद्ध और वास्तविक धर्म है तो वह बस 'आतम धर्म' ही है, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नों और चेतना या स्वानुभव रूप गुणों से संयुक्त है। यह शुद्ध धर्म सर्व कर्मों की व्याधि से या सर्व प्रकार के बाह्याडम्बरों से हीन रहता है ।

धर्म ध्यानं च आराध्यं, उवंकारं च अस्थितं ।
ह्रींकारं श्रींकारं च, त्रि–उवंकारं च संस्थितं ॥१७०॥

यह आत्मिक सद्धर्म ही रे! एक धर्म--ध्यान है ।
जिसमें सुसजित है अरे! विज्ञान ओम् समान है ॥
वह ओम् जिसका मोक्षलक्ष्मी से अभिन्न स्वरूप है ।
तारण तरण तीर्थङ्करों का, जो निधान अनूप है ॥

यह आत्मधर्म ही वास्तव में आराधने योग्य वह धर्मध्यान है, जो ओंकार का पुण्य निवासस्थान है, मुक्ति लक्ष्मी का प्रवेश द्वार है और तारणतरण चतुर्विंश तीर्थकरों का परम पवित्र तीर्थ स्थान है ।



धर्म ध्यान त्रिलोकं च, लोकालोकं च सास्वतं ।
कुन्यान त्रिविनिर्मुक्तं, मिथ्या माया न दिस्टते ॥१७१॥

जो आत्मिक सद्धर्म का, गाते मनोहर गान हैं ।
सालोक तीनों लोक का, धरते पुरुष वे ध्यान है ॥
यह आत्मिक सद्धर्म, मिथ्या ज्ञान--तम से हीन है ।
मायात्व का इसमें न दिखता, बिम्ब अशुचि मलीन है ॥

धर्म ध्यान की आराधना में सालोक तीनों लोकों का स्वरूप चिंतवन किया जाता है। यह आत्म चिन्तवन रूपी धर्म ध्यान तीनों कुज्ञान से रहित रहता है और वहां पर मिथ्यात्व या मायाचार नाम मात्र को भी दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

उत्तम षिमा उत्पाद्यंते, उत्तम तत्व प्रकासकं ।
ममलं अप्प सद्भावं, उत्तम धर्मं च निस्चयं ॥१७२॥

उत्तम क्षमा की जो मही पर, सृजन करता सृष्टि है ।
प्रत्येक कण से तत्व की, करता सतत जो वृष्टि है ॥
जो आत्मा का रूप है, निजरूप का जो मर्म है ।
वसुधातली पर भव्य वह ही, एक उत्तम धर्म है ॥

संसार में, जो उत्तम क्षमा की सृष्टि का सृजन तथा परमोत्तम आत्म तत्व का प्रकाशन करता हो व जिसमें आत्मा का अस्तित्व पूर्ण रूप से निहित हो या जो आत्मा के सद्भावों का स्वयं साक्षात् रूप हो, वही परमोत्कृष्ट उत्तम धर्म है।



मिथ्या समय मिथ्यातं, रागादि मल वर्जितः ।
असत्यं अनृतं न दिस्टंते, ममलं धर्म सदा बुधैः ॥१७३॥

मिथ्यात्व, मिथ्या शास्त्र से, जिसका पृथक संसार है ।
रागादि मल की जिस जगह, बहती न कुत्सित धार है ॥
जिसमें न दिखता अनृत या कोई अचेतन कर्म है ।
विज्ञो ! वही संसार में, बस, एक उत्तम धर्म है ॥

जो मिथ्याज्ञान और मिथ्या शास्त्रों से सर्वथा दूर हो; रागादि मल के जिसमें चिन्ह भी न हों तथा असत्य और अनृत पदार्थों का जिसकी दृष्टि में कोई भी महत्व न हो वही संसार में सर्वोत्तम धर्म है।

धर्मं उत्तम धर्मं च, मिथ्या रागादि खंडितं ।
चेतनाचेतनं द्रव्यं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ॥१७४॥

संसार में सब धर्म में, उत्तम वही एक धर्म है ।
मिथ्यात्व खंडन कर दिखाता, सत्य का जो मर्म है ॥
चेतन, अचेतन द्रव्य का, जिसको भलीविधि ज्ञान है ।
जो शुद्ध निर्मल तत्व का ही, सतत करता गान है ॥

जो मिथ्याज्ञान व आत्मा के विभाव रूप रागादिक परिणामों का सर्वथा खण्डन कर, शुद्धात्म तत्व का प्रकाश करता हो; चेतन और अचेतन पदार्थों के स्वरूप का जिसे स्पष्ट ज्ञान हो, संसार में सब धर्मों में बस वही एक उत्तम धर्म है ।



धर्मं अर्थ तिअर्थं च, ति अर्थ विंद संजुतं ।
षट् कमलं त्रि उवंकारं, धर्म ध्यानं च जोयतं ॥१७५॥

रे ! धर्म क्या ? शुद्धात्मा का, एक निर्मल रूप है ।
जगमग किया करता है, रत्नत्रय से यह वह स्तूप है ॥
ओंकार कर षट् कमल मय, करता जो उसका ध्यान है ।
वह पारखी है, शुद्ध आतम की उसे पहिचान है ॥

धर्म क्या है ? सब पदार्थों में श्रेष्ठ आत्म पदार्थ का सर्वोत्कृष्ट रूप ! वह स्तूप जो अहर्निश तीन रत्नों से प्रदीप्त रहा करता है । ओंकार को षट् कमलमय कर, जो ध्यान किया जाता है, उस ध्यान में इस धर्म की ही अनुभूति होती है ।

धर्मं च अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकंदनं।
सुद्ध तत्वं च आराध्यं, ह्रींकारं न्यान मयं धुवं ॥१७६॥

वसुधातली में, एक आतम धर्म ही सुखसार है ।
मिथ्यात्व, मायाचार से जो, शून्य है, अविकार है ॥
करते हैं जो शुद्धात्मा की, यह महा आराधना ।
भाते हैं वे परमात्मा की, नर निसंशय भावना ॥

संसार में सर्वोत्कृष्ट धर्म शुद्ध आत्म धर्म ही है। यह धर्म मिथ्यात्व और मायाचार का समूल नाश करने वाला होता है। चतुर्विंश तीर्थंकर या परमोत्कृष्ट पद में रहने वाले परमात्मा की जो अनुभूति होती है, वह इस शुद्धात्म धर्म की आराधना से प्राप्त हो जाती है।



धर्म ध्यान के चार भेद

पदस्तं पिंडस्तं जेन, रूपस्तं विक्त रूपयं।
चतु ध्यानं च आराध्यं, सुद्ध सम्मिक दर्सनं ॥१७७॥

भव्यो ! जो धर्मध्यान है, वह चार भेद प्रमाण है ।
पहिला प्रकार पदस्थ है, पिण्डस्थ दूजा ध्यान है ॥
रूपस्थ ध्यान तृतीय, चौथा ध्यान रूपातीत है ।
यह ध्यान अंतिम ही कि बस, शुद्धात्म रूपी भीत है ॥

धर्म ध्यान के ४ भेद हैं (१) पदस्थ ध्यान (२) पिण्डस्थ ध्यान (३) रूपस्थ ध्यान (४) रूपातीत ध्यान। जो चौथा रूपातीत ध्यान होता है, वही सर्वोत्कृष्ट आराधने के योग्य ध्यान होता है और उसी में शुद्धात्मा का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप झलकता है।

पदस्थ–ध्यान

पदस्तं पद विंदते, अर्थ सर्वार्थ सास्वतं ।
व्यंजनं तत्व सार्द्ध च, पदस्तं तत्र संजुतं ॥१७८॥

होता पदस्थ–ध्यान में है, उन पदों का चिन्तवन ।
शुद्धात्मिक–सद्भाव ही, करते जहां पर हैं रमण ॥
इन पदावलियों में जो करते, वर्ण–गुच्छ निवास हैं ।
तत्वार्थ देने का ही वे, करते अनन्त प्रयास हैं ॥

पदस्थ ध्यान में उन पदों का चिंतवन किया जाता है, जो शुद्धात्मिक सद्भावों से परिपूर्ण रहते हैं। इस पदावली में जितने भी व्यंजन या वर्णगुच्छ रहते हैं, वे शुद्धात्म पदार्थ की ओर ही मन को आकृष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।



कुन्यानं त्रि न पस्यंते, माया मिथ्या विखंडितं ।
विजनं च पदार्थं च, सार्द्ध न्यान मयं धुवं ॥१७९॥

सद्भाव सत्तापूर्ण जो, होता पदस्थ–ध्यान है ।
उसमें नहीं कुज्ञान का, दिखता कहीं मुख म्लान है ॥
मिथ्यात्व–मायाचार करता, उस जगह न किलोल है ।
कण कण में उसके व्याप्त रहता, तत्व– ज्ञान अमोल है ॥

पदस्थ ध्यान में, जो तीन मिथ्याज्ञान होते हैं, उनका दर्शन नहीं होता है। मिथ्यात्व मायाचार से वह शून्य होता है तथा उसके एक एक व्यंजन व पद में अमोल तत्वज्ञान भरा रहता है।

पदस्तं सुद्ध पदं सार्द्धं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
सल्यं त्रय निरोधं च, माया मिथ्या न दिस्टते ॥१८०॥

जो शुद्ध आत्मिक भाव मय, होता पदस्थ-ध्यान है ।
करता है वह शुचि शुद्धतम, तत्वार्थ का ही गान है ॥
दिखते न तीनों शल्य के, उसमें कहीं भी शूल हैं ।
मिथ्यात्व मायाचार की, दिखतीं वहाँ बस धूल हैं ॥

पदस्थ ध्यान में शुद्ध पदों का ही निवास रहता है । इसके सारे पद व व्यंजन शुद्ध तत्व का ही प्रकाश करने वाले होते हैं । मिथ्या, माया व निदान इन शल्यों से सम्बन्धित विचारों को इस ध्यान में कोई भी स्थान नहीं रहता है, न मायात्व या मिथ्याचार ही इस ध्यान में कहीं दृष्टिगोचर होने पाता है ।



पदस्तं लोक लोकांतं, लोकालोक प्रकासकं ।
विंजनं सास्वतं सार्द्धं, उवंकारं च विंदते ॥१८१॥

जितना भी लोकालोक का, भव्यो ! सविस्तृत ज्ञान है ।
सर्वांग उसका चिंतवन, करता पदस्थ ध्यान है ॥
यह शुभ पदस्थ--ध्यान, शाश्वत व्यंजनों का वास है ।
यह ध्यान वह, करता जहाँ पर, 'ओम्' दिव्य प्रकाश है ॥

पदस्थ ध्यान लोकालोक के प्रकाशक, समस्त तत्वों का एक साथ चिन्तवन करता है । इस ध्यान में ओम् पद का शाश्वत वास रहता है और इसके सारे व्यंजन व पद शाश्वत आत्म पदार्थ के ही द्योतक होते हैं ।

अंग पूर्व च जानंते, पदस्तं सास्वतं पदं ।
अनृत अचेत त्यक्तं च, धर्म ध्यान पदं ध्रुवं ॥१८२॥

जो भी चतुर्दश पूर्व, ग्यारह अंग का विज्ञान है ।
शाश्वत पदों से जानता, उनको पदस्थ ध्यान है ॥
भव्यो ! अचेतन, अनृत, जड़ का ध्यान करना हेय है ।
ध्यावो पदस्थ-ध्यान, जीवन का इसी में श्रेय है ॥

पदस्थ ध्यान में ११ अंग व १४ पूर्व का पदों के द्वारा क्रमशः चिन्तवन किया जाता है। हे प्राणियो ! तुम अनृत और अचेत पदार्थों की वन्दना कर व्यर्थ में क्यों कर्मबन्ध करते हो ? यह वन्दना हेय है। जीवन का श्रेय इसी में है कि तुम जड़ की आराधना छोड़कर इस धर्म ध्यान में जुट जाओ।



पिण्डस्थ ध्यान

पिंडस्तं न्यान पिंडस्य, स्वात्मचिंता सदा बुधैः ।
निरोधं असत्य भावस्य, उत्पाद्यं सास्वतं पदं ॥१८३॥

पिण्डस्थ ज्ञानस्वरूप. उस शुचि आत्मा का ध्यान है ।
जिस आत्मा का चिन्तवन, करता सदा विज्ञान है ॥
यह ध्यान मिथ्या भाव का, करता महान निरोध है ।
शाश्वत अमर पद का कराता, यह सहज ही बोध है ॥

पिण्डस्थ ध्यान, ज्ञान के कुंज उस आत्मा का ध्यान है, जिसका कि ज्ञानवान प्राणी निरन्तर चिन्तवन किया करते हैं। यह पिण्डस्थ ध्यान असत्य भावों का निरोध करने वाला और शाश्वत पदार्थों का बोध व सृजन करने वाला होता है।

आत्म सद्भाव आरक्तं, पर द्रव्यं न चिंतये।
न्यानमयो न्यान पिंडस्य, चिंतयंति सदा बुधैः ॥१८४॥

यह आत्मा सद्भाव-पुंजों का, अगाध निधान है।
पर द्रव्य का फिर मूढ़ क्यों, करता अरे! तू ध्यान है?
जो जीव प्रज्ञावान हैं, अविवेक से जो हीन हैं।
शुद्धात्म में ही वे पुरुष, रहते सदा तल्लीन हैं॥

यह आत्मा सद्भाव पुंजों का एक अगाध और अटूट निधान है। फिर यह समझ नहीं पड़ता कि यह प्राणी क्यों और किस लिये आत्मा से विगत पर पदार्थ का चिन्तवन किया करता है? जो प्राज्ञ पुरुष होते हैं वे ज्ञान पिंड आत्मा के चिन्तवन करने में ही सदा तल्लीन रहा करते हैं।



रूपस्थ ध्यान

रूपस्तं चिद्रूपस्य, अधो ऊर्ध्वं च मध्ययं।
सुद्ध तत्व असुथिरी भूतं, ह्रींकारेन जोइतं ॥१८५॥

रूपस्थ के ध्यानी सदा, करते हैं यह ही चिन्तवन।
अर्हन्त में तीनों ही, लोकालोक करते हैं रमण॥
होते हैं उनके लक्ष्य श्री, जिन चतुर्विंश महान हैं।
उन ही से वे शुद्धात्म पद का, प्राप्त करते ज्ञान हैं॥

रूपस्थ ध्यानी विचार करता है कि अर्हन्त भगवान में तीनों ही लोक का ज्ञान विचरण कर रहा है अर्थात् अरहन्त भगवान तीनों ही लोक और अलोक में विद्यमान हैं। चौवीस तीर्थंकर ही उसके लक्ष्य के महान विन्दु होते हैं और उनका स्वरूप चिन्तवन करते करते ही वह शुद्धात्मतत्व का अनुभव कर लेता है।

चिद्रूपं सर्व चिद्रूपं, धर्म ध्यानं च निस्चयं ।
मिथ्यात्व राग मुक्तं च, अमलं निर्मलं ध्रुवं ॥१८६॥

संसार में प्रति आत्मा, अरहन्त प्रभु का रूप है ।
मिथ्यात्व, राग-विहीन है; सत् चित् ममल चिद्रूप है ॥
इस भांति करता आत्म का, जो भी मनन गुणवान है ।
वह सत्पुरुष धरता है शुचि, रूपस्थ रूपी ध्यान है ॥

रूपस्थ ध्यानी यह चिन्तवन करता है कि संसार में प्रत्येक आत्मा शुद्धात्मा है और प्रत्येक आत्म विज्ञान की दृष्टि से अरहंत प्रभु का रूप है। वह आत्मा को सर्व प्रकार मिथ्या भावों से विरक्त, रागादि विभावों से मुक्त, निर्मल और शाश्वत अजर अमर रहने वाली मानता है।



रूपस्तं अर्हंत् रूपेन, ह्रींकारेन दिस्टते ।
उवंकारस्य ऊर्ध्वस्य, ऊर्ध्वं च सुद्धं ध्रुवं ॥१८७॥

अरहन्त शुद्ध स्वभावमय, सद्भाव सत्तावान हैं ।
रूपस्थ ध्यानी के यही, होते सुलक्ष्य महान हैं ॥
अरहन्त से ही जानते वे, ह्रीं पद का रूप हैं ।
शुचि ह्रीं ही से जानते वे, ओंकार स्वरूप हैं ॥

रूपस्थ ध्यानी अरहन्त परमात्मा को शुद्ध स्वभावमय जानते हुए, उनही के ध्यान में तल्लीन रहते हैं। अरहन्त देव को आधारभूत मानते हुए ही, वे चतुर्विंश तीर्थंकर का चिंतवन कर लेते हैं और चतुर्विंश के आधार पर से ओम् की अनुभूति में मग्न हो जाते हैं।

रूपातीत ध्यान

रूपातीत विक्त रूपेन, निरंजनं न्यान मयं ध्रुवं ।
मति श्रुत अवधिं दिस्टं, मनपर्यय केवलं ध्रुवं ॥१८८॥

हे भव्य ! रूपातीत, उस शुचि आत्मा का ध्यान है ।
किल्लोल करता सिद्ध का, जिसमें स्वरूप महान है ॥
मति, श्रुत, अवधि से पांच होते जो अरे ! विज्ञान हैं ।
इस ध्यान में देते कि वे पांचों, झलक असमान हैं ॥

रूपातीत ध्यान प्रकट रूप से उस आत्मा का साक्षात्कार है, जो निरंजन, ज्ञानमय और ध्रुव है। इस ध्यान में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँचों ही एक रूप नित्य दिखलाई पड़ते हैं।



अनंत दर्सनं न्यानं, वीर्ज नंत सौख्ययं ।
सर्वन्यं सुद्ध द्रव्यार्थं, सुद्ध संमिक दर्सनं ॥१८९॥

वसुधातली में चार जो भी, चतुष्टय विख्यात हैं ।
होते हैं रूपातीत में, सब आत्म में वे ज्ञात हैं ॥
ध्यानी को होता भान, वह सर्वज्ञ है, गुणगेह है ।
शुचि शुद्ध दर्शन-ज्ञान से, परिपूर्ण उसकी देह है ॥

अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तवीर्य, अनंत सौख्य, जो ये चार चतुष्टय होते हैं, वे रूपस्थ ध्यानी को ध्यान करते समय अपनी आत्मा में प्रकट दिखलाई पड़ते हैं। उसे उस अवस्था में अनुभव होता है कि वह एक साधारण आत्मा नहीं, किन्तु सर्वज्ञ है; शुद्धात्मा परम पुरुष है और शुद्ध सम्यग्दर्शन से उसका आत्म-सरोवर सतह तक भरा हुआ है।

देव, गुरु और शास्त्र या सम्यग्दर्शन में अटूट श्रद्धा

●

प्रति पूर्नं सुद्ध धर्मस्य, असुद्धं मिथ्या तिक्तयं ।
सुद्ध संमिक मं सुद्धं, सार्द्धं ममिक दिस्टितं ॥१९०॥

जो शुद्ध निर्मल धर्म को, करता सदा प्रतिपूर्ण है ।
मिथ्यात्व का गढ़ तोड़, जो उसको बनाता चूर्ण है ॥
शुद्धात्मा की जिसे सम्यक्, भली विधि पहिचान है ।
संसार में 'दर्शन' उसी का, नाम प्रज्ञावान है ॥

जो धर्म को अपने समीचीन भाव से सदा पूर्ण बनाता हो, मिथ्या और अशुद्ध भावों को अपनी छाया से विलग करता हो, शुद्धात्मा की जिसे भली प्रकार पहिचान हो या जो वस्तु के यथार्थ स्वरूपों को भली प्रकार जानता हो, संसार में उसी को विद्वान लोग 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं ।



देव गुरु धर्म सुद्धस्य, सार्धं न्यान मयं धुवं ।
मिथ्या त्रिविध मुक्तं च, संमिक्तं सुद्धं धुवं ॥१९१॥

जो आप्त, गुरु और धर्म में, रखता अटल श्रद्धान है ।
इन तीन जगमग ज्योतियों का, जिसे सम्यग्ज्ञान है ॥
जिससे विलग मिथ्यात्व की, दुखदायिनी कटु सृष्टि है ।
भव्यो ! वही ध्रुव अचल, ज्ञानी शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥

जिसको ज्ञानमय देव, गुरु और धर्म में अचल श्रद्धान है तथा जो तीनों मिथ्याज्ञान से सर्वथा रहित है, वही पुरुष शुद्ध सम्यग्दृष्टि कहलाता है ।

देव देवाधि देवं च, गुरु ग्रंथं च मुक्तयं ।
धर्मस्य सुद्ध चैतन्यं, सार्द्धं संमिक्तं धुवं ॥१९२॥

जो सिद्ध हैं, कृतकृत्य हैं, बस वही देव महान हैं ।
जो सब परिग्रह रहित हैं, गुरु वही ज्ञान-निधान हैं ॥
चैतन्यमय शुद्धात्मा ही, धर्म बस अविकार है ।
इन तीन का श्रद्धान ही, दर्शन सुखों का सार है ॥

देवों के देव अरहन्त या सिद्ध ही यथार्थ देव हैं; सर्व आरम्भ परिग्रहों से रहित निर्ग्रंथ गुरु ही यथार्थ गुरु हैं; चैतन्य लक्षण से मण्डित शुद्धात्मा की आराधना ही यथार्थ धर्म है और इन तीनों का सम्यक् श्रद्धान ही यथार्थ सम्यक् दर्शन है ।



संमिक्तं जस्य जीवस्य, दोषं तस्य न पश्यते ।
नतु संमिक्त हीनस्य, संसारे भ्रमनं सदा ॥१९३॥

जिस सत्पुरुष के सन्निकट, सम्यक्त्व रूपी कोष है ।
उसमें नहीं दिखता है कोई, भूलकर भी दोष है ॥
सम्यक्त्व की इस सम्पदा से, जो अभागा हीन है ।
संसार अटवी में सदा, करता भ्रमण वह दीन है ॥

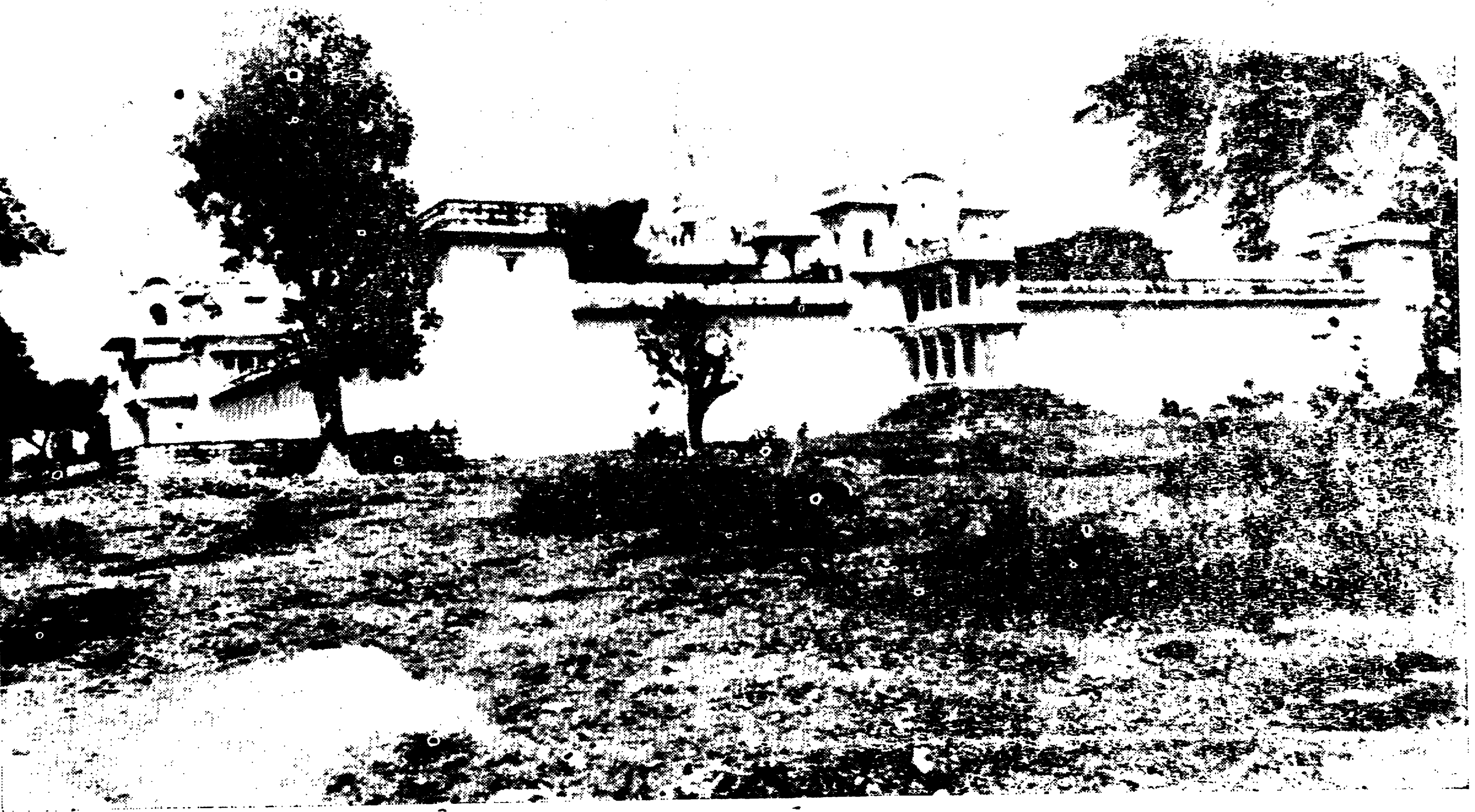
जिस प्राणी के पास सम्यग्दर्शन रूपी निधि होती है, उसके पास किसी भी जाति के दोष नहीं फटकने पाते हैं, किन्तु जो सम्यक्त्व से हीन रहता है, वह दोषों से युक्त होकर सदा ही संसार में भ्रमण किया करता है ।

जस्य हृदयं सार्द्धं व्रत तप क्रिया संजुतं ।
सुद्धं तत्वं च आराध्यं, मुक्ति गामी न संसयः ॥१९४॥

सम्यक्त्व रूपी संपदा, जिस हृदय के आधीन है ।
व्रत, तप, क्रियाओं में समझ लो, वह सदा तल्लीन है ॥
शुद्धात्म की आराधना, रे ! वह सुधा की बिन्दु है ।
पीकर जिसे नर प्राप्त कर जाता, अमर-सुख-सिंधु है ॥

जो पुरुष सम्यक्त्व से युक्त रहता है, वह व्रतधारी नहीं रहते हुए भी, व्रत, तप, क्रिया आदि सब दैनिक कर्म करने वालों के समान ही रहता है ! शुद्ध तत्व की आराधना या शुद्धात्म तत्व में प्रतीति वास्तव में एक ऐसी वस्तु है कि उसके आराधक को मुक्ति प्राप्त करते देर ही नहीं लगती ।





तीर्थक्षेत्र श्री निसई जी का पार्श्व दृश्य

अटूट श्रद्धावान किन्तु साधनाओं से हीन

गृहस्थाश्रमी अव्रत सम्यग्दृष्टि और उसके कर्तव्य

(तृतीय खंड)

अटूट श्रद्धावान
किन्तु
साधनाओं से हीन

गृहस्थाश्रमी, अव्रत सम्यग्दृष्टि और उसके कर्तव्य

[१९५ से ३७७ तक]



"देखो, गृहस्थ जो दूसरे लोगों को कर्तव्य-पालन में सहायता देता है और स्वयं भी धार्मिक जीवन व्यतीत करता है, वह ऋषियों से भी अधिक पवित्र है।"



—महर्षि तिरुवल्लुवर

तामिल वेद, पृष्ठ १६/८

अटूट श्रद्धावान किन्तु साधनाओं से हीन



गृहस्थाश्रमी अव्रत सम्यग्दृष्टि और उसके कर्तव्य



अव्रत सम्यग्दृष्टि

लिंगं च जिनं प्रोक्तं, त्रिय लिंग जिनागमं ।
उत्तम मध्यं जघन्यं च, क्रिया त्रैपन संजुतं ॥१९५॥

संसार के सन्मुख कि कहते, सत् सनातन वेद हैं ।
जो मोक्ष-साधक श्रेणियां हैं, तीन उनके भेद हैं ॥
उत्तम प्रथम, मध्यम द्वितिय, जो तृतिय है वह जघन्य है ।
त्रेपन क्रिया से युक्त, इन सबका निकुंज सुरम्य है ॥

सर्वज्ञ भगवान मोक्ष साधक श्रेणियों को ३ विभागों में विभाजित करते हैं। प्रथम श्रेणी उत्तम, द्वितीय मध्यम व तृतीय जघन्य श्रेणी कहलाती है। ये तीनों श्रेणियें त्रेपन क्रियाओं का नित्यप्रति आचरण करने वाली होती हैं।

उत्तमं जिन रूपी च, मध्यमं च मति श्रुतौ ।
जघन्यं तत्व सार्द्धं च, अविरतं संमिक दिस्टितं ॥१९६॥

उत्कृष्ट लिंग विराग प्रभु के रूप, साधु महान हैं ।
मध्यम विमल मतिश्रुत मयी, श्रावक व्रती गुणवान हैं ॥
अन्तिम प्रभेद स्वरूप वे, व्रतहीन सम्यग्दृष्टि हैं ।
जिनके हृदय में शुद्ध दर्शन की, बसी नव सृष्टि हैं ॥

उत्तम श्रेणी के अन्तर्गत जितेन्द्रिय भगवान के साक्षात् स्वरूप निर्ग्रंथ गुरु आते हैं, मध्यम श्रेणी में मति और श्रुतज्ञान के धारी, व्रती सद्गृहस्थ आते हैं और तृतिय श्रेणी में आते हैं अचल श्रद्धान के धारी अव्रती सद्गृहस्थ। इस प्रकार ये तीन श्रेणियां होती हैं।



लिंगं त्रिविधं उक्तं, चतुर्थ लिंग न उच्यते ।
जिन सासने च प्रोक्तं च, संमिक दिस्टि विसेसतं ॥१९७॥

सर्वज्ञ का शासन जो, सम्यग्दृष्टि है अविकार है ।
कहता है साधक श्रेणियों का, बस यही विस्तार है ॥
इन तीन के अतिरिक्त, चौथा भेद और न शेष है ।
शुचि शुद्ध दर्शन का ही, पर सबमें महत्व विशेष है ॥

मोक्ष साधक श्रेणियों के उत्तम, मध्यम व जघन्य ये तीन ही भेद होते हैं। चतुर्थ भेद और कोई नहीं है। वीतराग प्रभु के शासन में सम्यग्दर्शन और उसके पालने वाले सम्यग्दृष्टि का ही विशेष महत्व है।

स्थूल किन्तु ज्ञानमय १८ क्रियाओं का पालन

जघन्यं अव्रतं नामं च, जिन उक्तं जिनागमं ।
सार्द्धं न्यान मयं सुद्धं, दस अष्ट क्रिया संजुतं ॥१९८॥

अव्रती सम्यग्दृष्टि, यह जिस पात्र का शुचि नाम है ।
आराध्य होता एक उसका, शुद्ध आतमराम है ॥
कहते हैं यह, वसुधा में जो सर्वज्ञभाषित शास्त्र हैं ।
होते हैं अष्ठादश क्रियामय, ये जघन्य सुपात्र हैं ॥

जो जघन्य मोक्ष-साधक श्रेणी के अन्तर्गत आने वाला अव्रत सम्यग्दृष्टि होता है, वह वीतराग प्रभु के बताये हुए मार्ग के अनुसार शुद्धात्मा का अचल श्रद्धान और अठारह क्रियाओं का नियम से पालन करता है ।



अव्रत सम्यग्दृष्टि के कर्तव्य

संमिक्तं सुद्ध धर्मस्य, मूल गुनस्य उच्यते ।
दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं न्यान मयं धुवं ॥१९९॥

अव्रतीजन का आत्म में, होता अडिग श्रद्धान है ।
वह अष्ट गुण को पालता, करता उन्हीं का गान है ॥
जो तीन विधि के पात्र हैं, करता वह उनका मान है ।
देता उन्हें आनन्दयुत हो, वह चतुर्विधि दान है ॥

अव्रत सम्यग्दृष्टि का आत्मा में अचल श्रद्धान होता है। वह पाँच अभक्ष्य फलों को नहीं खाता और मद्य, माँस व मधु इन तीन मकारों का नियम से त्यागी होता है। तीन विधि के पात्रों को चार प्रकार के दान देना भी उसके कर्तव्य का एक अंग होता है।

दर्सन न्यान चारित्रं, विसेषितं गुन पर्जयं ।
अनस्तमितं सुद्ध भावस्य, फासू जल जिनागमं ।।२००।।

रहता है वह शुचि शुद्ध; दर्शन का नियम से पात्र है ।
होता है ज्ञानाचार, इन दो वर्ग का वह छात्र है ।।
वह रात्रि भोजन त्यागता, करता छना जल पान है ।
शास्त्रादिकों के पठन में, रखता सजग नित ध्यान है ।।

वह सम्यग्दर्शन का तो नियम से धारी होता ही है किन्तु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का भी वह यथाशक्ति आचरण करता है। रात्रि को भोजन करना वह बिलकुल त्याग देता है और अपने सारे व्यवहारों में वह छने जल का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त शास्त्रों का पठन पाठन करना भी अव्रत सम्यग्दृष्टि का एक प्रमुख कर्म होता है।



एतत् क्रिया संजुक्तं, सुद्ध संमिक्त धारना ।
प्रतिमा व्रत तपस्चैव, भावना कृत सार्ध यं ।।२०१।।

अव्रती में बहती सदा, समकित-सुधा की धार है ।
रहता अठारह क्रियायुत, उसका सुभग संसार है ।।
व्रत, तप, क्रिया, प्रतिमादि से, होता यदपि वह हीन है।
रहता है पर शुभ भाव से, वह सतत उनमें लीन है ।।

अव्रत सम्यग्दृष्टि शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारण करने वाला होता है। अठारह क्रियाओं का तो वह पालन करता ही है, किन्तु साथ ही साथ यदि नियम से नहीं तो शुद्ध भावनाओं के साथ वह प्रतिमाओं और व्रतों के पालन करने में भी संलग्न रहा करता है।

अन्या संमिक्त संमिक्तं, भाव वेदक उपसमं ।
क्षायिकं सुद्ध भावस्य, संमिक्तं सुद्धं ध्रुवं ॥२०२॥

सर्वज्ञ के मुख-कमल से, विकसित हुए जो फूल हैं ।
रुचि करो उनही पर वही, सम्यक्त्व निधि के मूल हैं ॥
भगवान में श्रद्धान सब, श्रद्धान का श्रद्धान है ।
वेदक यही, उपशम यही, क्षायिक यही मतिमान है ॥

भगवान के कहे हुए वचनों में श्रद्धा रखना, यह सबसे महान कोटि का सम्यक्त्व है। यही उपशम, यही वेदक, और यही वह शुद्ध और ध्रुव क्षायिक सम्यक्त्व है, जिसे पाकर मनुष्य एक दिन स्वयं शुद्ध और ध्रुव की संज्ञा से विभूषित हो जाता है।



प्रगाढ़ सम्यग्दर्शन की ओर प्रवृत्ति

●

मोक्ष पथ का आधार सम्यग्दर्शन

उपादेय गुण पदवी च, सुद्ध संमिक्त भावना ।
पदवी चत्वारि सार्द्ध च, जिन उक्तं सुद्ध दिस्टितं ॥२०३॥

सम्यक्त्व क्या है? आत्मा का, वह अनित्य निधान है ।
जो पंच परमेष्ठी पदों से, व्याप्त नित्य समान है ॥
सर्वज्ञ कहते, विज्ञजन! सम्यक्त्व क्यों ध्याते नहीं ।
सम्यक्त्व पा, क्यों पंच परमेष्ठी स्वपद पाते नहीं?

सम्यक्त्व की भावना भाते हुए या अपने आत्म श्रद्धान को उत्तरोत्तर वृद्धिंगत बनाते हुए मनुष्य को इस संसार से मुक्ति प्राप्त करने का साधन जुटाना ही योग्य है। अर्थात् जीवन का श्रेय इसी में है कि मनुष्य मुक्त बनने का प्रयास करे। सर्वज्ञ कहते हैं कि हे भव्यो! अपने आत्मा के प्रकाश को विस्तृत बनाओ और श्रेष्ठ परमेष्ठी पद को प्राप्त करो।

मति न्यानं च उत्पादंते, कमलासने कंठ स्थिते ।
उवंकारं सार्द्धं च, तिअर्थ सार्द्धं ध्रुवं ॥२०४॥

यह ओम् शाश्वत मुक्ति का, पर्यायवाची रूप है ।
यह ऊर्ध्व है, सद्भावमय है, ममल है, चिद्रूप है ॥
ग्रीवा-कमल आसीन कर, करता जो इसका ध्यान है ।
प्रति निमिष उसका अग्रसर, होता अरे मतिज्ञान है ॥

सद्भावों से पूरित ओम् ऊर्ध्व स्वभाव का धारी है। रत्नत्रय का वह शाश्वत निवास-स्थल है; मुक्ति का वह साक्षात् प्रतीक है। कंठस्थित कमल में स्थिर कर, इस पुण्य ओम् का जो चिन्तवन करता है, वह पुरुष उत्तरोत्तर प्रखर मतिज्ञान का धारी बनता है।



कुन्यानं त्रि-विनिर्मुक्तं, छाया मिथ्या तिक्तयं ।
उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं, सार्द्धं न्यान पंचमं ॥२०५॥

सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का, होता न किंचित् बोध है ।
यह तीन मिथ्याज्ञान का, करता सदैव निरोध है ॥
करता है जो इस मोक्ष के, पथ की निरंतर साधना ।
वह ओम् ह्रीं व श्रीं की, करता सतत आराधना ॥

सम्यक्त्व तीनों मिथ्याज्ञान से शून्य होता है; मिथ्यात्व की छाया तक उसमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती है। जो इस मोक्ष के मूल सम्यक्त्व की सतत आराधना करता है वह ओम्, ह्रीं श्रीं तीनों का या ओम् ह्रीं श्रीं इस पुण्य मंत्र का स्तवन कर लेता है और केवलज्ञान उत्पन्न करने के मार्ग को सरल और सीधा बना लेता है।

देवं गुरुं धर्म सुद्धस्य, सुद्ध तत्व सार्धं ध्रुवं ।
संमिक दिस्टि सुद्धं च, संमिक्तं संमिक दिस्टितं ॥२०६॥

सत देव, गुरु और धर्म में, जिसको अटल श्रद्धान है ।
शुद्धात्म के ही चिन्तवन में, लीन जिसका ध्यान है ॥
जिसकी समीचीनत्व से, परिपूर्ण निर्मल दृष्टि है ।
वह विज्ञजन ही भव्यजीवो, शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥

जिसको सत्देव, सद्गुरु और सद्धर्म में अटल श्रद्धान हो; अपनी आत्मा के ही चिन्तवन में जो सदा लवलीन रहता हो तथा जिसकी दृष्टि में पूर्णरूपेण पूर्णता आ गई हो, वही पुरुष सम्यग्दृष्टि कहलाता है ।



संमिक्तं जस्य सुद्धं च, व्रत तप संजमं सदा ।
अनेय गुन तिस्टंते, संमिक्तं सार्द्ध बुधैः ॥२०७॥

जिसका हृदय सम्यक्त्व का, शुचि शुद्ध पूर्ण निवास है ।
व्रत तप क्रिया संयम सभी का, उस हृदय में वास है ॥
सम्यक्त्व की सद् प्राप्ति करना, एक अनुपम सिद्धि है ।
इस सिद्धि से होती गुणों में, नित्य नूतन वृद्धि है ॥

जिसका हृदय सम्यक्त्व-गंगा से पवित्र हो जाता है, वह व्रत, तप आदि क्रियाओं से रहित होते हुए भी, अनेक व्रतों का स्वामी हो जाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेना, एक दैवी शक्ति पर विजय पा लेना है, क्योंकि सम्यक्त्व ही एक ऐसी वस्तु है जिसको सींचने से व्रत, तप, क्रिया आदि का वृक्ष अपने आप हरा हो जाता है ।

जस्य संमिक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजुतं ।
संजम क्रिया अकार्जं च, मूल विना वृषं जथा ॥२०८॥

जो उग्र तप तपता है पर, श्रद्धान से जो हीन है ।
वह मूर्ख अपना तन बनाता, निष्प्रयोजन क्षीण है ॥
जिस भांति होती वृक्ष की रे ! मूल ही आधार है ।
उस भाँति जप तप क्रिया में, दर्शन प्रथम है; सार है ॥

जो कठिन तपश्चरण तो करता है, किन्तु श्रद्धान जिसका बिलकुल शिथिल है, उसको समझ लेना चाहिये कि वह निष्प्रयोजन अपनी देह को सुखाकर कांटा बनाता है। व्रत हो, तप हो, क्रियाएं हों, कुछ भी हों, सम्यक्त्व का सबको आधारस्थल चाहिये ही। जिस प्रकार वृक्ष के लिये जड़ की नितान्त आवश्यकता है, उसी प्रकार सारे बाह्य कर्मों के लिये सम्यक्त्व या आत्मानुभूति की नितान्त आवश्यकता है।



संमिक्तं जस्य मूलस्य, साहा व्रत डाल नंत नंताई ।
अवरेवि गुणा होंति, संमिक्तं हृदयं यस्य ॥२०९॥

जिस क्रिया रूपी वृक्ष की, सम्यक्त्व रूपी मूल है ।
वह वृद्धि पा देता अनन्तानन्त, मृदु फल-फूल है ॥
जिनके हृदय पर लग चुकीं, सम्यक्त्व की दृढ़ छाप हैं ।
अगणित गुणों के गेह, बन जाते वे अपने आप हैं ॥

जो क्रियायें सम्यक्त्व को आधार बनाकर सम्पन्न की जाती हैं, वे शीघ्र, अविलम्ब ही अपना फल दिखा देती हैं। जिसके हृदय पर सम्यक्त्व की दृढ़ छाप लग जाती है, वह अपने आप अनेक व्रतों का धारी बन जाता है; सद्गुण स्वयं चले आते हैं और उसके गले में वरमाल डाल देते हैं।

संमिक्त बिना जीवा, जानै अंगाई श्रुत बहु भेयं ।
अनेयं व्रत चरनं, मिथ्या तप वाटिका जीवो ॥२१०॥

यह जीव तीनों लोक के, श्रुतज्ञान का भंडार हो ।
व्रत तप क्रिया से युक्त हो, आचार का आगार हो ॥
पर यदि न इसके हृदय में, समकित सलिल का ताल है ।
जप तप क्रिया व्रत सभी, इसका एक मायाजाल है ॥

मनुष्य तीनों लोक के श्रुतज्ञान का वेत्ता ही क्यों न हो; व्रत तप क्रियाओं के सम्पादन में उसका पूरा का पूरा समय ही क्यों न जाता हो; बाह्य आचरण और व्यवहार उसके गंगाजल से ही पवित्र क्यों न हों, पर यदि उसके हृदय में आत्मप्रतीति का या शुद्ध सम्यक्त्व का सरोवर नहीं है तो उसके ये व्रत तप, धर्माचरण नहीं, किन्तु संसार को ठगने के लिये प्रत्यक्ष माया के जाल हैं ।



सुद्ध संमिक्त उक्तं च, रत्नत्रयं च संजुतं ।
सुद्ध तत्वं च सार्द्धं च, संमिक्ति मुक्ति गामिनो ॥२११॥

जिस शुद्धतम सम्यक्त्व का, सर्वज्ञ करते हैं कथन ।
वह तीन अनुपम रत्न से, रहता है मंडित विज्ञजन ॥
उसमें निहित रहता सदा, शुद्धात्म का श्रद्धान है ।
मिलता है शिवपुरगामियों को, यह अटूट निधान है ॥

जिस शुद्ध सम्यक्त्व का कथन श्री वीतराग देव करते हैं, हे भव्यो ! वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन रत्नों से निरन्तर ही अलंकृत रहता है । यह सम्यक्त्व आत्मा के श्रद्धान से भरपूर होता है और जिसको मोक्ष-प्राप्ति का सौभाग्य होता है, उसे ही इस दुर्लभ रत्न को प्राप्त करने का अवसर मिलता है ।

संमिक्तं जस्य न तिस्टंते, अनेय विभ्रम जे रता।
मिथ्या मय मूढ दिस्टी च, संसारे भ्रमनं सदा ॥२१२॥

सम्यक्त्व जीवनमूरि से, जिसका हृदस्तल भिन्न है।
वह जीव विभ्रम–ग्रस्त हो, रहता सदा ही खिन्न है॥
जो घोर तिमिराच्छन्न, मिथ्या मार्ग में आरूढ़ है।
संसार–अटवी में भटकता, वह सदा ही मूढ़ है॥

जिसका हृदय सम्यक्त्व से बहुत दूर रहता है अर्थात् जिसे अपनी आत्मा के ज्ञान गुणों पर विश्वास नहीं रहता, वह पुरुष हमेशा ही विभ्रम–ग्रस्त अवस्था में पाया जाता है। मिथ्याज्ञान रूपी अंधकार में भटकते २ वह नेत्रहीन हो जाता है और निरंतर संसार रूपी कुंओं में गिरना ही उसका एकमात्र काम हो जाता है।



संमिक्तं जेन उत्पादंते, सुद्ध धर्म रतो सदा।
दोषं तस्य न पस्यंते, रजनी उदय भास्करं ॥२१३॥

जिसके हृदय में हो चुका, सम्यक्त्व–रवि का जागरण।
जो प्रति निमिष करता है, आतम–धर्म का ही आचरण॥
उसके हृदय में दोष को, रहता न कोई ठौर है।
आदित्य के पश्चात रहती, सर्वरी क्या और है?

जिसके हृदय में सम्यक्त्व रूपी सूर्य जाग जाता है; जो अपनी आत्म अर्चा में ही निरंतर तल्लीन रहता है, वह फिर किसी भी अवस्था में दोषों का पात्र नहीं रह पाता है। जब सूर्योदय हो जाता है तब क्या अंधकार भी कहीं देखने को मिला करता है?

संमिक्तं यस्य न पस्यंति, अंध एव मूढं त्रयं ।
कुन्यानं पटलं यस्य, कोसी उदय भास्करं ॥२१४॥

सम्यक्त्व रूपी सूर्य का, जिसको न होता भान है ।
वह मूढ़ता से ग्रस्त; नेत्र-विहीन है; अज्ञान है ॥
जैसे कि बन्दी को न होता, सूर्य का आभास है ।
जो मूढ़ है दिखता न उसको, त्यों सुदृष्टि-प्रकाश है ॥

जो मनुष्य अपनी आत्मा पर प्रतीति नहीं लाते हैं, वे अंधों के ही समान हैं। तीन मूढ़ताओं ने उनकी आँखों पर अज्ञान की पट्टी चढ़ादी है। जिस प्रकार कारागृह की चहारदीवारी में घिरे हुए बंदी को सूर्य का प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार मूर्खों को अपने अन्तर में छिपे हुए ज्ञान-धन पर प्रतीति नहीं होती।



संमिक्तं जस्य सूवंते, श्रुत न्यान विचक्षनं ।
न्यानेन न्यान उत्पादंते, लोकालोकस्य पस्यते ॥२१५॥

जिसका हृदय सम्यक्त्व का, निस्सीम पारावार है ।
श्रुतज्ञान का जिसके हृदय में, दूर तक विस्तार है ॥
वह ज्ञान से इस भाँति, वृद्धिंगत बनाता ज्ञान है ।
दिखता है उसके ज्ञान में, त्रैलोक्य राई समान है ॥

जिसका हृदय सम्यक्त्व से ओतप्रोत है और श्रुतज्ञान का जो विशद भंडार है, उसके भाग्य की— उसके ज्ञान की फिर क्या सीमा ? आत्मानुभव जनित और शास्त्रों के स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञानों से अपने ज्ञान का वह इतना विस्तार कर लेता है कि उसे लोकालोक का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है।

संमिक्तं जस्य न पस्यंते, असार्द्ध व्रत संजमं ।
ते नरा मिथ्या भावेन, जीवितोपि मृतं भवेत् ॥२१६॥

जिससे नहीं होती, विमल सम्यक्त्व की आराधना ।
होती नहीं जप तप व्रतों की, उस पुरुष से साधना ॥
करता सदा मिथ्यात्वपूरित, वह क्रिया अज्ञान है ।
जीता है पर जीते हुए, वह मूढ़ मृतक समान है ॥

जो पुरुष सम्यक्त्व को असाध्य कहकर, उसके पालन करने में अपने को असमर्थ बना लेता है, उससे व्रत, संयम, तप वगैरह कुछ भी पल सकेंगे, यह नितान्त भ्रमात्मक बात है। मिथ्या भावों को लेकर ही वह संसार में जीता रहता है, पर उसके जीने में और मरने में कोई अंतर नहीं रहता है अर्थात् वह मृतक के समान संसार में काल यापन करता रहता है।



उदयं संमिक्त हृदयं जस्य, त्रिलोकं मुदमं सदा ।
कुन्यानं राग तिक्तं च, मिथ्या माया विलोयते ॥२१७॥

जिसके हृदय में हो गया, सम्यक्त्व का सुप्रभात है ।
त्रैलोक्य में उसको न रहती, फिर कहीं भी रात है ॥
मिथ्यात्व-मायाचार--तम, रहते न उसके पास हैं ।
कुज्ञान--राग उसे न देते, चोर सा फिर त्रास हैं ॥

जिसके हृदय में सम्यक्त्व का उदय हो गया, उसके सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिये कि तीनों लोक, तीनों भुवन में उसके लिये प्रकाश ही प्रकाश हो गया; रात्रि का उसके लिये कहीं नाम भी न रहा। मिथ्यात्व और मायाचार उसके पास से सदा के लिये अदृश्य हो जाते हैं और कुज्ञान का अस्तित्व तो सदा के लिये उसके हृदय से मिट जाता है।

संमित्त सहित नरय यम्मि, संमित्त हीनो न चक्रियं ।
संमित्तं मुक्ति मार्गस्य, हीन संमित्त निगोदयं ॥२१८॥

सम्यक्त्व-निधि के सहित, नर्क-निवास भी उत्कृष्ट है ।
सम्यक्त्व-निधि से रहित चक्रिय पद नितान्त निकृष्ट है ॥
सम्यक्त्व चिर सुख-सदन है, सम्यक्त्व चिर-सुख-गोद है ।
मिथ्यात्व दुख की सेज है, मिथ्यात्व नर्क निगोद है ॥

सम्यक्त्व के सहित नर्क में रहना भी उत्तम है, किन्तु सम्यक्त्व से रहित चक्रवर्ती पद भी नितान्त हेय है। सम्यक्त्व मुक्ति का मार्ग है और मिथ्यात्व भीषण दुखों से भरी हुई निगोद भूमि की संकीर्ण गली ।



संमित्त संजुत्त पात्रस्य, ते उत्तमं सदा बुधै ।
हीन संमित्त कुलीनस्य, अकुली अपात्र उच्यते ॥२१९॥

सम्यक्त्व-निधि का पात्र, यदि चाण्डाल का भी लाल है ।
तो वह नहीं है नीच, वह भूदेव है, महिपाल है ॥
सम्यक्त्व-निधि से रहित, यदि एक उच्च, श्रेष्ठ, कुलीन है ।
तो वह महान दरिद्र है, उससा न कोई हीन है ॥

सम्यक्त्व निधि का पात्र यदि शूद्र अस्पृश्य या चाण्डाल का पुत्र है तो वह भी उत्तम है और सम्यक्त्व से रहित यदि ब्राह्मण वैश्य या क्षत्रिय है तो वह भी नीच है। कहने का तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व के पात्रों में जाति-पांति का या ऊंच नीच का भेदभाव नहीं गिना जाता। जिसमें सम्यक्त्व हो, वही सम्यग्दृष्टि, वही पूज्य और वही आराध्य होता है ।

ति अर्थं संमिक्तं सार्द्धं, तिर्थंकर नाम सुद्धये ।
कर्म षिपति त्रिविधं च, मुक्ति पंथ सिधं धुवं ॥२२०॥

सम्यक्त्व साधन के ही करते, जो अनन्त प्रयास हैं ।
उनको ही मिलते, तीर्थंकर, बंध के अवकाश हैं ॥
वे तीन कर्मों के किले, पल में बनाते चूर्ण हैं ।
सत, चित, परम, आनंद बनकर वे कहाते पूर्ण हैं ॥

जो सम्यक्त्व का साधन करता है, वही समय पाकर जग को तारने वाला बन जाता है और संसार में तीर्थंकर के नाम से प्रसिद्ध होता है । सम्यक्त्व साधन करने वाला द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इन तीनों कर्मों को नाश कर डालता है और सत् चित आनन्द बनकर पूर्ण पुरुष परमात्मा कहलाता है ।



संमिक्तं जस्य चिंतंति, वारंवारेन सार्धयं ।
दोषं तस्य विनस्यंति, सिंघ मतंग जूथयं ॥२२१॥

सम्यक्त्व का जो जीव करता है, सदा ही चिन्तवन ।
उसके हृदय में दोष के, पड़ते नहीं कलुषित चरण ॥
क्या सिंह को, होता जो अनुपम शक्ति का आगार है ।
आकर कभी रे ! छेड़ता गजराज का परिवार है ?

जो पुरुष सम्यक्त्व का वार वार चिन्तवन करता है और उसके अर्थ का सूक्ष्म बुद्धि से मनन करता है, उसके हृदय में दोषों के चरण किसी भी अवस्था में नहीं पड़ने पाते हैं । क्या विशाल शक्ति के सागर सिंह को हाथियों का समूह भी कभी आकर छेड़ सकता है ?

संमिक्तं सुद्ध धुवं सार्धं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
ति अर्थ सुद्ध संपूर्न, संमिक्तं सास्वतं पदं ॥२२२॥

सम्यक्त्व ही जगतीतली में, ग्राह्य है, सुखसार है ।
सम्यक्त्व ही शुद्धात्म का आलोक है, आधार है ॥
सम्यक्त्व तीनों रत्न का, पूर्णत्व है, एकत्व है ।
सम्यक्त्व ही शिवमार्ग है, सम्यक्त्व ही शिवतत्व है ॥

इस जगतीतली में सम्यक्त्व ही एक शुद्ध और सार्थक पद है और यही शुद्धात्म तत्व को प्रकाश में लाने के लिये एक सुदृढ़ आलोक स्थल है। यह पद रत्नत्रय से सुशोभित रहता है और उस मार्ग का प्रदर्शक होता है जो शाश्वत सुखों का आगार होता है और जिसको पाकर मनुष्य के जन्ममरण के बंधन कट जाते हैं।



यस्स हृदये संमिक्तस्य, उदयं सास्वतं अस्थिरं ।
तस्य गुनस्य नाथस्य, असक्य गुण अनंतयं ॥२२३॥

सम्यक्त्व पद का लाभ कर, जो पुरुष आगे बढ़ गया ।
वह शाश्वत, ध्रुव, अमर उदयाचल शिखर पर चढ़ गया ॥
दिखते नहीं फिर कोई से भी, दोष उसके साथ हैं ।
आकर अनन्तानन्त गुण, उसको झुकाते माथ हैं ॥

जिस पुरुष ने सम्यक्त्व मार्ग का अवलम्बन कर लिया, उसने शाश्वत सुखों के उदयाचल को चूम लिया, प्रत्यक्ष यह ही समझना चाहिये। सम्यक्त्वधारी पुरुष, सम्यक्त्व का स्वामी बनकर ही नहीं रह जाता, अनेकों गुण इस सुयोग्य पुरुष के पास आते हैं और उसके गले में वरमाला डालकर उसे अपना नाथ बना लेते हैं।

संमित्तं दिस्टते जेन, उदयं त्रिभुवन त्रयं ।
लोकालोक त्रिलोकं च, आल बाले मुखं जथा ॥२२४॥

सम्यक्त्व-रवि से खिल चुकीं, जिसके हृद्स्तल की कली ।
उसके लिये समझो, प्रकाशित हो गई त्रिभुवनतली ॥
दिखता है उसके ज्ञान में, इस भांति से संसार है ।
जिस भांति निर्मल कुण्ड में, दिखता वदन उनहार है ॥

जिसके हृदय में सम्यक्त्व का प्रखर प्रकाश हो जाता है, उसके लिये तीनों भुवन प्रकाशित हो जाते हैं। सम्यक्त्व के प्रकाश से उसके ज्ञान में इतनी निर्मलता आ जाती है कि तीनों लोक उसे पानी में दिखते हुए मुख की छाया की भांति स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगते हैं ।



अष्टमूल गुणों का पालन



पंच उदम्बर

मूल गुनं च उत्पादंते, फलं पंच न दिस्टते ।
बड़ पीपल पिलषुनी च, पाकर उदंबरं स्तथा ॥२२५॥

सम्यक्त्व से जिन भव्य पुरुषों का, हृद्स्तल है सना ।
वे अष्टगुण को पालने की, नित्य करते साधना ॥
पीपल, उदम्बर, बड़, कटुम्बर, और पाकर ये सभी ।
होते अभक्ष्य न भूल, खाते हैं सुदृष्टि इन्हें कभी ॥

जो पुरुष सम्यक्त्व पालन करने का व्रत ले लेते हैं, वे अष्ट मूलगुणों का साधन करने में सतत ही सावधान रहा करते हैं। अष्टमूलगुणों में जिन साधनाओं का समावेश है उनमें ८ वस्तुयें हैं, जिन्हें अभक्ष्य कहा गया है और जिन्हें न खाने का उपदेश श्री वीतराग प्रभु देते हैं। इन आठ मूल गुणों में पांच तो फल (१) बड़ के फल (२) पीपल के फल (३) कटूम्बर (४) पाकर और (५) उदम्बर और तीन मद्य मांस और मधु हुआ करते हैं ।

फलानि पंच तिक्तंति, त्रसस्य रष्यनार्थयं ।
अतीचार उत्पादंते, तस्य दोष निरोधनं ॥२२६॥

जो दीन, हीन, दरिद्र हैं, अपराध से हैं जो परे ।
ऐसे त्रसों के त्राण को, मत पंच फल खाओ अरे ॥
जिनके किये से हनन के, अतिचार होते हों सुजन ।
वे दोष भी सब सर्वथा ही, त्याज्य हैं, हे विज्ञजन ॥

जो पाँच फल नहीं खाने के योग्य बताये हैं, वे इसलिये ही बताये गये हैं कि उनमें हजारों त्रस जीवों का निवास होता है। उन त्रस जीवों की रक्षा के लिये ही हे भव्यो ! तुम उन फलों को मत खाओ। ऐसी दूसरी वे क्रियायें भी मत करो, जिनके करने से इन फलों को खाने का अथवा जीव घात का दोष लग जाये और इन फलों को न खाते हुए भी, तुम उनको खाने के दोष के तथा हिंसा पाप लगने के भागी बन जाओ।



अन्नं जथा फलं पुहपं, वीजं संमूर्छनं जथा ।
तथाहि दोष तिक्तंते, अनेके उत्पाद्यते जथा ॥२२७॥

जिस अन्न में घुन लग गया, रे वह असेव्य, अभोग्य है ।
फल-फूल-बीज-समूह भी जो, विकृत हो, अपभोग्य है ॥
इस भाँति जिनमें जन्म लेते, नित्य प्रति सम्मूर्च्छन ।
उन वस्तुओं को भूल मत, भक्षण करो हे विज्ञजन ॥

जिस प्रकार उपरोक्त पांच फल भक्षण करने के योग्य नहीं ठहराये गये हैं, उसी प्रकार और वस्तुयें भी जैसे ऐसा अन्न, जिसमें कीड़ों ने घुन लगा दिया है, सड़े हुए और समूचे फल, फूल बीज घास, पत्ते वाली शाक आदि ऐसी वस्तुएं भी, जिनमें सम्मूर्च्छन जीव रहा करते हैं, त्यागने के योग्य ही ठहरती हैं। तात्पर्य यह कि हमें जहां भी संदेह हो कि इस वस्तु में विकार आ गया है और इसमें सम्मूर्च्छन जंतु होंगे, वहाँ ही हमें उस वस्तु को अभक्ष्य समझ लेना चाहिये।

तीन मकार

मद्यं च मान संबंधं, ममत्व राग पूरितं ।
असुद्धं आलापं वाक्यं, मद्य दोष संगीयते ॥२२८॥

भव्यो ! सुनो मदिरा न केवल, मद्य का ही नाम है ।
मदिरा वही, मदिरा-गुणों के सदृश जिसका काम है ॥
मद, मान, ममता, मद्य, ये सब मद्य के ही रूप हैं ।
कटु वचन भी है मद्य, कहते यह गिरा चिद्रूप हैं ॥

जिन चीजों में मदिरा या मान सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जायें, वे समस्त वस्तुएं अथवा मान की भावनायें मद्यपान करने के अन्तर्गत ही आ जाती हैं, जैसे अशुद्ध कटु वचन बोलना। जब मनुष्य शराब पी लेता है या मान का भूत उसके सिर पर सवार हो जाता है, तभी उसके मुंह से अनर्गल शब्द निकलते हैं, अत: अशुद्ध आलाप भी मदिरापान का ही द्योतक है।



संधान संमूर्छनं जेन, तिक्तं ति जे विचष्यनं ।
अनंत भाव दोषेन, न करोति सुद्ध दिस्टितं ॥२२९॥

जो वस्तुयें सम्मूर्छन, त्रस जन्तुओं की कोष हैं ।
'संधान' के जिनमें, अनन्तानन्त लगते दोष हैं ॥
जो शुद्धदृष्टी है वह करता, इन सभी का त्याग है ।
जो पापमूलक वस्तुएं, उनसे न रखता राग है ॥

ऐसी वस्तुएं, जिनमें चलित रस सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जावें, संधान कहलाती हैं। मर्यादा के बाहिर का अचार, मुरब्बा, दहीबड़े आदि वस्तुएं संधान में ही गर्भित होती हैं। चूंकि इन संधानों में अनंतानंत सम्मूर्च्छन जंतुओं का निवास होता है; इनके खाने में मदिरापान करने के समान ही दोष लगता है और आत्मा के साथ अनंतानुबंधी कषायों का बंध होता है, अत: सम्यग्दृष्टि या विवेकी पुरुष को इन संधानों को भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

मांसं भष्यते जेन, लोनीं मुहूर्त गतस्तथा ।
न च भोक्तं न च उक्तं च, व्यापारं न च क्रीयते ॥२३०॥

जो पुरुष खाता, दो घड़ी पश्चात् की नवनीत है ।
वह मांसभक्षी, मांस से, उसको समझलो प्रीत है ॥
इस भांति की नवनीत, अनउपदेश्य और अयोग्य है ।
इस विकृति का व्यापार करना भी, नितान्त अयोग्य है ॥

मक्खन में दो घड़ी के पश्चात् अनंतानंत सम्मूर्च्छन जीव पड़ जाते हैं, अतः विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह दो घड़ी के पहले ही मक्खन को घी के रूप में परिणत कर ले। जो पुरुष दो घड़ी के बाद के मक्खन को व्यवहार में लाता है, उसको खाने का उपदेश देता है या उसका व्यापार करता है वह जानबूझकर मांस का भक्षण करता है और यह कहने में पाप नहीं कि उस पुरुष की जिह्वा को मांस खाने में आसक्ति है ।



दो दारिया मही दुग्धं, जे नरा भुक्त भोजनं ।
स्वादं विचलितं जेन, भुक्तं मासस्य दोषनं ॥२३१॥

जो तक्र के या दुग्ध के संग, द्विदल करता भक्ष है ।
वह पुरुष खाता मांस है, यह नग्न सत्य प्रत्यक्ष है ॥
जिन वस्तुओं के स्वाद में, जिस क्षण विकृतियाँ आ गईं ।
वे वस्तुएं, उस निमिष से ही, 'मांस' संज्ञा पा गईं ॥

जो दो दाल वाली वस्तुओं को या उनके रूपान्तर को फासू करने आदि का बहाना करके दही छाछ या दूध के साथ मिलाकर खाते हैं; या जो ऐसी वस्तुओं का सेवन करते हैं जिनका स्वाद कुछ से कुछ हो गया है, वे पुरुष मांस ही का भक्षण करते हैं और मांस खाने के दोष के भागी बनते हैं।

मधुरं मधुरस्चैव, व्यापारं न च क्रीयते ।
मधुरं मिश्रिते जेन, द्वि मूहूर्त संमूर्छनं ॥२३२॥

मधु, मांस, मद्यों का, न जिनमें रे ! हनन का पार है ।
करते नहीं, जो विज्ञ होते हैं, कभी व्यापार हैं ॥
मधु का सम्मिश्रण, दो मुहूर्तों के अनन्तर विज्ञजन ।
अगणित त्रसों, सम्मूर्छनों का, केन्द्र बनजाता सघन ॥

जो विवेकी पुरुष होते हैं, वे मद्य, माँस या मधु का कभी भी व्यापार नहीं करते हैं । शहद भी बिलकुल ही अभक्ष्य पदार्थ है ! इसको जिस किसी भी वस्तु के साथ मिलाया जाता है, उसमें निश्चित रूप से दो मुहूर्त के पश्चात् अगणित सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ।



संमूर्छनं जथा जानंते, साकं पुहपादि पत्रयं ।
तिक्तंते न च भुक्तं च, दोषं मांम उच्यते ॥२३३॥

पत्ती, पुहुप औ शाक जो, होतीं वनस्पति काय हैं ।
उनमें विचरते जीव नित, सम्मूर्च्छन पर्याय हैं ॥
त्यागो इन्हें, इनका ग्रहण करना सभी विधि हेय है ।
व्यापार भी इनका नहीं करना, इसी में श्रेय है ॥

शाक, फूल और पत्तों में अनंतानंत सम्मूर्च्छन जीव विचरते रहते हैं, अतः इनका सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये । चूंकि इनके क्रय विक्रय में भी वही दोष लगता है, अतः सम्यग्दृष्टि को उचित है कि वह इन वस्तुओं का व्यापार भी नहीं करे ।

कंदं वीजं जथा नेयं, संमूर्छनं विदलस्तथा।
व्यापारे न च भुक्तं च, मूल गुनं प्रति पालये ॥२३४॥

जो कंद हैं, जो बीज हैं, या जो विदल हैं विज्ञजन ।
जिनके कि कण कण में विचरते, नित्यप्रति सम्मूर्छन ॥
जो अष्ट गुण को चाहता, करता हृदय का हार है ।
इनका कभी करता न वह, व्यापार या व्यवहार है ॥

भूमि के अन्दर उत्पन्न होने वाले कंद, बीज, द्विदल, विदल ये सब सम्मूर्च्छन जीवों के घर हुआ करते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष को न तो इन्हें खाना चाहिये और न इनका व्यापार ही करना चाहिये। सम्मूर्च्छनों के इन निवास-स्थल पदार्थों को जो अभक्ष्य कहकर छोड़ देता है, वही अष्टमूल गुणों का अतिचार रहित पालन करता है।



शुद्धात्मा का मनन और पाखंडियों में अश्रद्धा

दर्सनं न्यान चारित्रं, सार्धं सुद्धात्मा गुनं ।
तत्व नित्य प्रकासेन, सार्धं न्यान मयं धुवं ॥२३५॥

शुद्धात्मा में तीन निधि, करतीं सदैव प्रकाश हैं ।
जिनमें अनन्तानन्त गुण, देते सतत आभास हैं ॥
इन आत्मनिधियों की अरे, जो साधना करते सदा ।
उनके लिये प्रस्तुत बनी, रहती है शिव-सुख-सम्पदा ॥

शुद्धात्मा में तीन निधियों का तीनों काल एक साथ प्रकाश होता रहता है। इन निधियों में अनंत गुणों की राशियें जगमगाया करती हैं, जिनमें से शुद्धात्म तत्व का छन छन कर प्रकाश होता रहता है। इस ज्ञान गुण के धारी आत्मा की जो पुरुष सदा ही अर्चना किया करता है, वह ज्ञान का पुंज बनकर, एक दिन नियम से मोक्ष नगर का वासी बनता है।

दर्सनं तत्व सार्धं च, ति अर्थ सुद्ध दिस्टतं ।
मय मूर्ति संपूरनं, स्वात्मदर्सन चिंतनं ॥२३६॥

सम्यक्त्व क्या ? तत्वार्थ का रे ! दृढ़, अचल श्रद्धान है ।
संसार सागर तारने को, जो जहाज समान है ॥
जो ज्ञान की प्रतिमूर्ति हैं, जो पूर्ण अपने आप हैं ।
करते हैं वे बस स्वात्म-दर्शन, स्वात्म का ही जाप हैं ॥

सम्यग्दर्शन क्या है ? तत्वार्थ के श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन, यदि शुद्ध दृष्टि से देखा जाय, तो संसार के प्राणियों को तारने के लिये जहाज के समान होता है। जो पुरुष ज्ञान की प्रतिमूर्ति होते हैं, या जो अपने आप संपूर्ण होते हैं, वे इस सम्यग्दर्शन का ही चिन्तवन करते हैं या वे अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान धरते हैं।

दर्सनं सप्त तत्वानं, द्रव्य काय पदार्थकं ।
जीव द्रव्यं च सुद्ध च, सार्धं सुद्धं दरसनं ॥२३७॥

षट द्रव्य, सातों तत्व का, करता जो कि श्रद्धान है ।
व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहलाता, वह नर मतिमान है ॥
जिस जीव के श्रद्धान का, बस लक्ष्य आतमराम है ।
द्रव्यार्थिक नय दृष्टि से वह जीव समकित-धाम है ॥

जो पुरुष सातों तत्व, छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थों का श्रद्धान करता है, वह व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन का पालन करता है और जो पुरुष शुद्ध जीव द्रव्य का श्रद्धान करता है वह द्रव्यार्थिक नय से सम्यग्दर्शन का साधन करता है।

दर्सनं अर्ध ऊर्ध्वं च, मध्य लोकं च दिस्टते ।
षट् कमलं ति अर्थं च, जोइय संमिक दर्सनं ॥२३८॥

रे ! ऊर्ध्व, मध्य व अर्ध, ये जो तीन विस्तृत लोक हैं ।
सम्यक्त्व में दिखते सतत, उनके बृहत् आलोक हैं ॥
सम्यक्त्व का होता हृदय में, जिस समय पूर्णत्व है ।
षट कमल मय दिखता है तब, त्रयरत्न–पूरित तत्व है ॥

सम्यक्त्व के प्रभाव से, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक, ये तीनों स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। जिस समय मनुष्य के अंतस्तल में सम्यक्त्व पूर्ण रीति से रमण करता है, उस समय ऐसा मालूम पड़ता है, मानो, षट कमल और सर्वांग में सम्यक्त्व की धारा बह रही है।



दरसनं अत्र उत्पादंते, तत्र मिथ्या न दिस्टते ।
कुन्यानं मलस्चैव, तिक्तंति योगी समाचरेत् ॥२३९॥

सम्यक्त्व-रवि का जिस जगह, होता प्रचण्ड प्रकाश है ।
मिथ्यात्व रूपी तिमिर करता, उस जगह न निवास है ॥
जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि के नित, पालता आचार है ।
कुज्ञान तज करता है वह, सत्दृष्टि मय व्यवहार है ॥

जहाँ सम्यग्दर्शन का पुण्य प्रादुर्भाव हो जाता है, वहाँ फिर मिथ्यात्व की छाया भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। जो पुरुष इस निर्मल सम्यग्दर्शन की आराधना करता है, वह कुज्ञान छोड़कर, सर्वत्र ज्ञानमय आचरण ही किया करता है।

मलं विमुक्त मूढादि, पंच विंसति न दिस्टते ।
आसा अस्नेह लोभं च, गारव त्रि विमुक्तयं ॥२४०॥

त्रय मूढ़तादिक मलों से, जो पुरुष पूर्ण विहीन हैं ।
उनमें नहीं दिखते कभी, पचीस दोष मलीन हैं ॥
आशा, सनेह व लोभ, उनके सन्निकट आते नहीं ।
जो तीन कटु गारव हैं, उनसे दुःख वे पाते नहीं ॥

जो पुरुष तीन मूढ़ता आदिक दोषों से विमुक्त हैं, उनमें पच्चीस दोष कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। आशा, स्नेह, लोभ व तीन गारव, उस मल से रहित सम्यग्दृष्टि के पास फटकने भी नहीं पाते हैं।



दर्सनं सुद्ध द्रव्यार्थं, लोक मूढं न दिस्टते ।
जस्य लोकं च सार्धं च, तिक्तते सुद्ध दिस्टतं ॥२४१॥

तत्वार्थ का श्रद्धान ही रे ! शुद्ध, शुचि सम्यक्त्व है ।
इसमें नहीं दिखता कहीं, संसार का मूढ़त्व है ॥
जो जीव लोक विमूढ़ता को, रे ! झुकाता माथ है ।
सम्यक्त्व निधि रहती नहीं, फिर भूल उसके साथ है ॥

शुद्धात्म तत्व में दृढ़ प्रतीति करना, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। जिस मनुष्य के पास सम्यग्दर्शन-निधि रहती है, उसके सन्निकट लोकमूढ़ता कभी आने का साहस ही नहीं करती है। जो पुरुष लोकमूढ़ता के शिकार में फंस जाता है वह निश्चय ही इस मणि से हाथ धो बैठता है अर्थात् लोक को प्रसन्न रखनेवाला, आत्मा का पुजारी किसी अवस्था में नहीं हो सकता।

देव मूढं च प्रोक्तं च, क्रीयते जेन मूढ यं ।
दुरबुद्धि उत्पादते जीवा, तावत् दिस्टि न सुद्धये ॥२४२॥

जो लौकिकेच्छा के लिये, जाते कुदेवों की शरण ।
वे जीव देव विमूढ़ता के, कूप में देते चरण ॥
जब तक अरे ! यह मूढ़ता, लाती कुबुद्धि कराल है ।
तब तक नहीं जगती हृदय में शुद्धदृष्टि विशाल है ॥

जो पुरुष राग द्वेष से सने हुए देवताओं के समीप जाकर, अपनी लौकिकेच्छा की पूर्ति के लिये प्रार्थना करता है, वह देवमूढ़ता की शरण लेता है, ऐसा कहा गया है। जब तक मनुष्य के हृदय में यह देवमूढ़ता रूपी इंधन सुलगा करता है, तब तक उसमें शुद्धदृष्टि का प्रादुर्भाव किसी भी प्रकार नहीं हो पाता है ।



अदेवं देव उक्तं च, मूढ़ दिस्टि प्रकीर्तितं ।
अचेतं असास्वतं येन, तिक्तंति सुद्ध दिस्टितं ॥२४३॥

जड़ वस्तु की आराधना क्या ? रे निरा मूढ़त्व है ।
अगणित मलों की भीत पर, जिसका बना अस्तित्व है ॥
जिसके हृदय सम्यक्त्व रूपी, सलिलजा के फूल हैं ।
अर्पित न करते वे अदेवों को, हृदय के फूल हैं ॥

देवत्व से रहित अदेवों की आराधना करना मूढ़दृष्टिता कहलाती है। जो पुरुष शुद्धदृष्टि होते हैं या जिनका आत्मा में दृढ़ श्रद्धान रहता है वे कभी भूलकर भी, ऐसे अचेत, अशाश्वत और जड़ देव को अपना शीश नहीं झुकाते ।

पाषंडी मूढ़ जानंते, पाषंडं विभ्रम जे रता ।
परपंचं पुद्गलार्थं च, पाषंड मूढ न संसय ॥२४४॥

जिसको न आत्मज्ञान है, जो हैं निरे बहुरूपिये ।
लौकिक प्रपंचों, विभ्रमों से, पूर्ण हैं जिनके हिये ॥
जो पुरुष रखते इन, कुगुरुओं में अरे श्रद्धान हैं ।
गुरुमूढ़ता के कूप में वे, कूदते अज्ञान हैं ॥

जो दिनरात पाखंड में ही चूर रहा करते हैं तथा आत्मा को विस्मृत बनाकर पुद्गल की सेवा करना ही जिन्होंने अपना धर्म बना लिया है, ऐसे पाखण्डी गुरुओं की जो आराधना करते हैं, वे मूढ़ पाखण्ड मूढ़ता के काठ में अपना पैर फंसाते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है ।



अनृतं अचेत उत्पादं, मिथ्या माया लोक रंजनं ।
पाषंडि मूढ विस्वासं, नरयं पतंति ते नरा ॥२४५॥

जो नित्यप्रति मिथ्यात्व का, करते सृजन संसार हैं ।
जो लोकरंजन और मायाचारिता के द्वार हैं ॥
ऐसे कुगुरुओं में जो करते, भूल भी विश्वास हैं ।
वे नर नियम से नर्क में, करते निरन्तर वास हैं ॥

जो नित्यप्रति मिथ्या बातों से सने हुए वाक्यों को जन साधारण में फैलाया करते हैं; लोकमूढ़ता और मायाचारिता के जो द्वार ही हैं, ऐसे खोटे गुरुओं में जो पुरुष विश्वास करते हैं, वे बिना किसी संशय के नर्क के पात्र बनते हैं ।

पाखंडि वचन विस्वासं, समय मिथ्या प्रकासये ।
जिनद्रोही दुरबुद्धि जेन, अस्थानं तस्य न जायते ॥२४६॥

पाखंडियों के वचन पर, करते जो नर विश्वास हैं ।
वे पुरुष करते रे ! कुशास्त्रों का, यथार्थ प्रकाश हैं ॥
सर्वज्ञ से विद्रोह करना, मात्र जिनका ध्येय है ।
ऐसे कुगुरु के वास तक को, लांघना भी हेय है ॥

जो पुरुष पाखण्डियों के वचनों पर विश्वास किया करता है वह कुशास्त्रों को प्रकाश में लाने का अपराधी भी बनता है, क्योंकि जिन बातों का प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता है उन बातों को वह जनता में भी अवश्य फैलाता है। वास्तविक बात तो यह है कि वीतराग प्रभु के मार्ग का जो उलंघन करता है, उसके निवास के दर्शन भी नहीं करना चाहिये।



पाखंडि कुमति अन्यानी, कुलिंगी जिन उक्त लोपनं ।
जिन लिंगी मिश्रेनं जस्य, जिनद्रोही न्यान लोपनं ॥२४७॥

जो हैं परिग्रह से सने, जिनके कुलिंगी वेश हैं ।
सर्वज्ञ के प्रतिकूल वे, देते अरे ! उपदेश हैं ॥
यह ही नहीं, जिनवेष धर कुछ, साधुओं की टोलियां ।
ऐसी भी हैं, जो जिनवचन की खेलती हैं होलियां ॥

जो परिग्रहों के समूह से व्याप्त रहते हैं, तथा निर्ग्रन्थ छोड़कर जिनके दूसरे दूसरे वेष रहते हैं, ऐसे साधु, वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी प्रभु के बताये हुए मार्ग के प्रतिकूल लोगों को उपदेश दिया करते हैं। कुलिंगी साधु ही नहीं, प्रत्यक्ष में कुछ ऐसे जैन निर्ग्रन्थ साधु भी हैं, जिन्होंकी टोलियां, जिन वचनों का उलंघन करती फिरती हैं और जनता को मनमाना स्वनिर्माणित उपदेश देती रहती हैं।

पाषंडी उक्त मिथ्यातं, वचनं विस्वास न क्रीयते ।
तिक्तंते सुद्ध दिस्टी च, दरसनं मल विमुक्तयं ॥२४८॥

पाखण्डियों के वचन पर, करते जो नर श्रद्धान हैं ।
दिखता है उसके हृदस्तल में, बस निरा कुज्ञान है ॥
जो शुद्ध निर्मल कुंद सी, समकित सलिल की धार है ।
करती न फिर उस हृदय में, कलकल निनाद गुँजार है ॥

जो पुरुष पाखंडी साधुओं के वचनों पर विश्वास करता है; उनकी पूजा करता है, उसके हृदय में फिर कुज्ञान का ही वास हो जाता है । जग को तारने वाली समकित सुधा की जो धार होती है, वह फिर उन अज्ञानियों के हृदय में कलकल नाद नहीं करती ।



मद अस्टं मान संबंधं, कषायं दोष विमुक्तयं ।
दरसनं मल न दिस्टंते, सुद्ध दिस्टि समाचरतु ॥२४९॥

जो अष्टमद के दोष से रे ! सर्वथा ही हीन हो ।
शंकादि मल की कालिमा से, जो न नेक मलीन हो ॥
जिसमें किसी भी भांति से, कोई कलंक किहेय हो ।
उस शुद्ध दर्शन का ही,प्रतिपालन जगत का ध्येय हो ॥

जो अष्ट मद के दोषों से सर्वथा रहित हो; शंकादिक मलों की जिसमें छाया भी न पड़ती हो तथा दूसरे किसी भी प्रकार के दोषों का जिसमें समावेश न हो, ऐस सम्यक्त्व का पालन करने में ही इस जगत का सर्वप्रकार हित सुरक्षित है ।

ज्ञान और आचरण का अभ्यास

●

न्यानं तत्वानि वेदंते सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
सुद्धात्मा तिअर्थं सुद्धं, न्यानं न्यान प्रयोजनं ॥२५०॥

जो सप्त तत्वों का रसास्वादन, कराता हो सदा ।
जो आगमों से ढूंढकर, देता हो नित नव सम्पदा ॥
जो यह बताता हो कि रे, तू ही स्वयं जल-यान है ।
जो ज्ञान में तल्लीन है, भव्यो ! वही बस ज्ञान है ॥

सप्त तत्व क्या हैं; उनका स्वरूप क्या है, जो इसको प्रकाश में लाये; शास्त्रों में व आगमों में कहां कौनसी निधि छिपी हुई है, जो इसका दिग्दर्शन कराये; शुद्धात्मा ही तीर्थ है, मनुष्यों के हृदय पर जो इस बात की छाप लगाये तथा जो नित्यप्रति ज्ञान सम्बन्धी विषयों में ही रमण करे, वही ज्ञान या सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।



न्यानेन न्यानमालंबं, पंच दीप्ति प्रस्थितं ।
उत्पन्नं केवलं न्यानं, सुद्धं सुद्ध दिस्टितं ॥२५१॥

यदि ज्ञान है तो, आत्मिक सद्ज्ञान ही वह ज्ञान है ।
जो दीप्त हो उठता हृदय में स्वयं अग्नि समान है ॥
इस ज्ञान से होता सृजन, उस ज्ञान का संसार है ।
जो पंच ज्ञानों में प्रमुख है, मोक्ष का जो द्वार है ॥

यदि हृदय में सम्यग्ज्ञान विद्यमान है, तो आत्मज्ञान को अपना प्रकाश फैलाते देर नहीं लगती अर्थात् सम्यग्ज्ञान हो जाने पर आत्मज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है । आत्मज्ञान से, मनुष्य उस केवलज्ञान तक को प्राप्त कर लेता है, जो पंच ज्ञानों में प्रमुख और शाश्वत सुखों के घर-मोक्ष का प्रधान कारण होता है ।

न्यान लोचन भव्यस्य, जिन उक्तं सार्धं धुवं ।
सुयं एतानि विन्यानं, सुद्ध दिस्टि समाचरेत् ॥२५२॥

जो भव्य हैं, होते हैं उनके ज्ञान के ही नेत्र हैं ।
उस ज्ञान से ही देखते वे, ज्ञानमय सब क्षेत्र हैं ॥
सम्यक्त्व ही होता है जिनका, मूलभूताधार है ।
बसता है उनके ज्ञान पर, विज्ञान का संसार है ॥

जो भव्य पुरुष होते हैं, उनके नेत्र ज्ञान से परिपूर्ण रहा करते हैं। संसार की सारी वस्तुओं को वे ज्ञान रूपी नेत्रों से ही देखा करते हैं, यह सर्वज्ञ देव का वचन है। जो सम्यग्दृष्टि पुरुष होते हैं, वे हमेशा अपना श्रुतज्ञान वृद्धिंगत बनाया करते हैं और इस तरह तत्वों में उत्तरोत्तर विशेष ज्ञान पैदा किया करते हैं ।



आचरनं अस्थिरीभूतं, सुद्ध तत्व तिअर्थकं ।
उवंकारं च विंदंते, तिस्टते सास्वतं पदं ॥२५३॥

जो तीन रत्नों से भरा, शुद्धात्म तत्व महान है ।
आरूढ़ हो उसमें जो करता, ओम् का गुणगान है ॥
वह जीव सम्यक् आचरण में, भली विधि से लीन है ।
वह उस परम पद में विचरता, जो कि नित्य नवीन है ॥

शुद्धात्म तत्व रत्नत्रय का निधान है। इस शुद्धात्म तत्व में ध्यानस्थ होकर, जो ओम् महामंत्र का चिन्तवन करता है, वही पुरुष आचरणवान है; वही पुरुष सम्यक्चारित्र का आचरण करता है और वही पुरुष मोक्षमार्ग में स्थित है ।

आचरनं द्विविधं प्रोक्तं, संमिक्तं संयमं ध्रुवं ।
प्रथमं संमिक्त चरनस्य, अस्थिरीभूतस्य संजमं ॥२५४॥

चारित्र के त्रय भेद हैं, कहते हैं जिन तारण तरण ।
है प्रथम दर्शन और विज्ञो, द्वितिय संयम आचरण ॥
जो प्रथमतम आचार है, वह एक श्रद्धास्तूप है ।
आचार का उसमें नहीं, मिलता सबलतम रूप है ॥

आचरण के तीन भेद होते हैं (१) सम्यक्त आचरण (२) संयम आचरण (३) ध्रुव शुद्धात्म आचरण। प्रथम आचरण में मात्र श्रद्धा विशेष होकर संयम में अस्थिरता रहती है, जबकि द्वितीय संयमाचरण में, बाह्य में षट्कायिक जीवों की रक्षा व अन्तर में आत्म विमलतारूप पूर्णपने संयमभाव रहता है। ये दोनो कारण उस तृतीय शाश्वत आचरण में स्थिरता कराने वाले हो जाते हैं।



चारित्रं संजमं चरनं, सुद्ध तत्व निरीष्यनं ।
आचरनं अबंध्यं दिस्टं, मार्ध सुद्ध दिस्टितं ॥२५५॥

जो शुद्ध संयम आचरण, वह स्वानुभव का सार है ।
होता है उसमें तत्व-रूपण, प्रतिनिमिष प्रतिवार है ॥
श्रद्धान ही होता है रे! इस निर्झरी का कूल है ।
बहता है जिसमें आचरण-जल, नित्यप्रति सुखमूल है ॥

यह संयमाचरण शुद्धात्म तत्व का अनुभव करानेवाला होता है। सम्यक्त्व इस जलाशय का किनारा होता है और आचरण उसका जल।

सत्पात्रों को विवेकपूर्ण दान

पात्रों के भेद

पात्रं त्रिविधि जानंते, दानं तस्य सुभावना ।
जिन रूपी उत्कृष्टं च, अव्रतं जघन्यं भवेत ॥२५६॥

विज्ञो ! सुनो यह कह रहे, सर्वज्ञभाषित शास्त्र हैं ।
वसुधातली में दान के रे ! तीन उत्तम पात्र हैं ॥
निर्ग्रन्थ गुरु उत्कृष्ट, मध्यम शुद्ध दृष्टि निधान हैं ।
निकृष्ट वे जो व्रत रहित हैं, किन्तु समकितवान हैं ॥

जिनको दान दिया जाता है, दान के वे पात्र तीन प्रकार के होते हैं। जितेन्द्रिय भगवान के साक्षात् स्वरूप निग्रन्थ गुरु उत्कृष्ट पात्र और व्रत रहित सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र होते हैं। मध्यम पात्र वे सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, जो प्रगाढ़ श्रद्धान के साथ साथ नियम से व्रतों की साधना भी किया करते हैं।



उत्तम पात्र निग्रन्थ साधु

उत्तमं जिन रूवं च, जिन उक्तं समाचरेत् ।
तिअर्थं जोयते जेन, ऊर्ध अर्ध च मध्यमं ॥२५७॥

जिनका हृदय त्रय रत्नपुंजों का, अगाध निधान है ।
तीनों भुवन करता प्रकाशित, सतत जिनका ज्ञान है ॥
जिनके चरित्राधार, श्री सर्वज्ञ भाषित शास्त्र हैं ।
वे ही दिगम्बर साधु भव्यो, सुनो उत्तम पात्र हैं ॥

जिनका हृदय रत्नत्रय से परिपूर्ण होता है; जो अपने ज्ञान से ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्यलोक सम्यक् विधि से जानते हैं तथा जो इन्द्रियों के नाथ, अष्टकर्मों को चूर्ण करने वाले वीतराग भगवान की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, वही निग्रन्थ परिग्रहों से शून्य साधु, दान के उत्तम पात्र गिने जाते हैं।

पट् कमलं त्रि उवंकारं, ध्यानं ध्यायन्ति सदा बुधै ।
पंच दीपृतं च विंदंते, स्वात्म दरसन दरमलं ॥२५८॥

करते दिगम्बर साधु नितप्रति, स्वात्म का ही ध्यान हैं ।
इस ध्यान से वे प्राप्त करते, पंचज्ञान महान हैं ॥
होते हैं वे इस भांति से रे, ओम ओतप्रोत हैं ।
पट कमल लगते हैं उन्हें, ओंकार के ही श्रोत हैं ॥

जो ज्ञानवान दिगम्बर साधु होते हैं, वे सदा आत्मा का ही ध्यान किया करते हैं और इसी के द्वारा पंचज्ञानों को वे प्रत्यक्ष अनुभव में ले जाते हैं। आत्मा का ध्यान करते करते उनकी आत्मानुभूति इतनी बढ़ जाती है कि उनको अपने शरीर में स्थित छहों कमल ओम् से ओतप्रोत जान पड़ने लगते हैं, अर्थात् वे स्वयं को ओम् से ओतप्रोत समझने लग जाते हैं।



अवधं जेन संपूरनं, ऋजु विपुवं च दिस्टते ।
मनपर्जय केवलं न्यानं, जिन रूवी उत्तमं बुधै ॥२५९॥

जो पूर्ण विधि से हो चुके रे ! अवधिज्ञान निधान हैं ।
ऋजु, विपुल जिनके हृदय में, देते झलक असमान हैं ॥
जो मनःपर्यय और केवलज्ञान के आधार हैं ।
वे ही दिगम्बर साधु, उत्तम पात्र जिन उनहार हैं ॥

जो अवधिज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं; दोनो प्रकार के ऋजुमति व विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान का भी जिनके हृदय में आभास हुआ करता है तथा केवलज्ञान की प्राप्ति में जिनका सतत अभ्यास चालू है, वही जिनेन्द्र भगवान के साक्षात स्वरूप निर्ग्रन्थ गुरु दान के उत्तम पात्र समझे जाते हैं।

मध्यम पात्र व्रती सम्यग्दृष्टि

उत्कृष्टं श्रावकं जेन, मध्य पात्रं च उच्यते ।
मति स्रुत न्यान संपूरनं, अवधं भावना कृतं ॥२६०॥

जो पूर्ण सम्यग्दृष्टि हैं, व्रत, तप, क्रिया आगार हैं ।
मति और श्रुत की बह रहीं, जिनमें विमलतम धार हैं ॥
जो अवधि पाने की सतत, करते हैं शुभ शुचि कामना ।
मध्यम सुपात्र वही हैं, सम्यग्दृष्टि जीव महामना ॥

जो उत्कृष्ट सद्गृहस्थ या श्रावक होते हैं, वे दान के मध्यम पात्र कहे जाते हैं। ये श्रावक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से पूर्ण होते हैं तथा अवधिज्ञान पाने की भावना इनमें प्रतिपल जाग्रत रहा करती है।



अन्या वेदक संमिक्तं, उपसमं सार्धं धुवं ।
पदवी द्वितीय आचार्यं च, मध्य पात्र सदा बुधे ॥२६१॥

जो आज्ञा वेदक व उपशम, ध्रौव्य समकितवान हैं ।
सम्यक्त्व से जिनके हृदय, दैदीप्य सूर्य समान हैं ॥
जो पुरुष करते द्वितिय पदवी का, भली विधि आचरण ।
वे सुजन मध्यम पात्र हैं, कहते हैं विभु तारण तरण ॥

जो आज्ञा, वेदक, उपशम व ध्रुव या क्षायिक सम्यक्त्व को धारण करते हैं व द्वितीय पदवी के अनुसार आचरण करते हैं, वही सद्गृहस्थ जीव या व्रतधारी सम्यग्दृष्टि दान के मध्यम पात्र गिने जाते हैं।

उवंकारं च बेदन्ते, ह्रींकारं सुत उच्यते ।
अचष्यु दरसन जोयंते, मध्य पात्र सदा बुधै ॥२६२॥

जो ओम् का ही नित्यप्रति, करते अलौकिक ध्यान हैं ।
जो ह्रीं-श्रुत के ही सतत, गाते मनोहर गान हैं ॥
करते हैं नित्य अचक्षु से जो, आत्म का दर्शन मनन ।
वे जीव मध्यम पात्र हैं, कहते हैं श्री अशरण शरण ॥

ओम् ही जिनकी आराधना का मूलमन्त्र है; ह्रींकार रूपी श्रुत के ही सदा जो गान गाते हैं तथा आत्मा ही के सदा जो अचक्षु दर्शन करते हैं, वही सद्गृहस्थ व्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक दान के मध्यम पात्र कहलाते हैं ।



प्रतिमा एकादसं जेन, व्रत पंच अनोव्रतं ।
साधं सुद्ध तत्वार्थं, धर्म ध्यानं च ध्यायते ॥२६३॥

जो पुरुष ग्यारह स्थान का, करते सतत अभ्यास हैं ।
पंचाणुव्रत के जो अलौकिक, भव्य पूर्ण निवास हैं ॥
जो नित्यप्रति धरते सहज ही, धर्म का शुचि ध्यान हैं ।
वे ही हैं मध्यम पात्र, जो सम्यक्त्व-रत्न निधान हैं ॥

जो ग्यारह प्रतिमाओं (स्थानों) का उत्तरोत्तर अभ्यास करते हैं; पाँच अणुव्रतों को पालते हैं; शुद्धात्मा का ध्यान धरते हैं व धर्मध्यान में निरन्तर लीन रहते हैं; वही व्रती सम्यग्दृष्टि जीव दान के मध्यम पात्र कहे जाते हैं ।

जघन्य पात्र अव्रत सम्यग्दृष्टि

अव्रतं त्रितिय पात्रं च, देव सास्त्र गुरु मानते ।
सद्दहंति सुद्ध संमिक्तं, सार्थं न्यान मयं धुवं ॥२६४॥

जो देव शास्त्र व साधु में, रखता अमिट श्रद्धान है ।
जो आत्म को ही मानता, तारण तरण जल-यान है ॥
होती सदा जिसके हृदय में, शुद्ध समकित-वृष्टि है ।
अन्तिम जघन्य कि पात्र वह ही, अव्रत सम्यग्दृष्टि है ॥

अव्रती सम्यग्दृष्टि दान का तृतीय पात्र गिना गया है। यह जघन्य पात्र कहलाता है। देव, शास्त्र व गुरु में इसकी अमिट श्रद्धा होती है; शुद्ध सम्यक्त्व का यह सम्यक् विधि से पालन करने वाला होता है तथा आत्मा को ही, यह संसार सागर से पार उतारने वाला एक मात्र जहाज समझता है।



सुद्ध दिस्टि च संपूरनं, मल मुक्तं सुद्ध भावना।
मति कमलासने कंठे, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ॥२६५॥

जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, सम्यक्त्व का जो कोष है ।
जिसमें नहीं अतिचार-दल, जिसमें न कोई दोष है ॥
कुज्ञान से जो हीन है, मतिज्ञान की जो सृष्टि है ।
अन्तिम जघन्य कि पात्र वह ही, अव्रत सम्यग्दृष्टि है ॥

जो पूर्णतम शुद्ध दृष्टि है, अर्थात् सम्यक्त्व की भावना से जो ओतप्रोत है; सम्यक्त्व में लगने वाले दूषण जिसे छू भी नहीं गये हैं; कंठस्थित कमल पर ॐ का ध्यान करने से जिसका मतिज्ञान अत्यंत ही प्रखर हो गया है और तीनों प्रकार के कुज्ञान से जो सर्वथा मुक्त है, वही अव्रत सम्यग्दृष्टि सद्गृहस्थ दान का जघन्य पात्र कहलाता है।

मिथ्या त्रिविधि न दिस्टंते, सल्यं त्रय निरोधनं।
सुधं च सुद्ध द्रव्यार्थं, अविरत संमिक दिस्टतं ॥२६६॥

जिसमें त्रिविधि मिथ्यात्व की, बहतीं न कुत्सित धार हैं।
देतीं न जिसको त्रास, शल्य-समूह अपरम्पार हैं॥
द्रव्यार्थिक नय और सुश्रुत, ज्ञान का जो पुंज है।
वह ही तृतीय सुपात्र, अव्रत-शुद्धदृष्टि--निकुंज है॥

जिसमें तीन प्रकार का मिथ्यात्व अंशमात्र भी नहीं पाया जाता है; तीनों शल्यों के लिये जिसके हृदय के कपाट बिलकुल बन्द हैं; शुद्ध निश्चयनय को जो सम्यक् विधि समझता है और श्रुतज्ञान का जो भण्डार है, वही अव्रती सम्यग्दृष्टि दान का जघन्य पात्र समझा गया है।



पात्र-दान का फल

त्रिविध पात्रं च दानं च, भावना चिंतते बुधैं।
सुद्ध दिस्टि रतो जीवा, अट्ठावन लष्य तिक्तयं ॥२६७॥

जो पुरुष रहते, दान की सद्भावना में लीन हैं।
होते हैं जो सम्यक्त्वधारी, सर्वदोष-विहीन हैं॥
षट्विंश लक्ष सुयोनि में हीं, वे पुरुष करते गमन।
जो हैं अठावन लाख गति, उनमें न वे करते भ्रमण॥

जो पुरुष उत्तम, मध्यम या जघन्य इन पात्रों को दान देने की भावना किया करते हैं, वे शुद्ध दृष्टि जीव, केवल २६ लाख योनियों में ही जन्म धारण करते हैं, ५८ लाख निम्न योनियों में कभी भ्रमण नहीं करते।

नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वि वनस्पती ।
विकलत्रयस्य योनी च, अट्ठावन लष्य तिक्तयं ॥२६८॥

सम्यक्त्व धारी नित्य' 'इतर' निगोद में जाते नहीं ।
अप, तेज, वायु, धरा, वनस्पति काय वे पाते नहीं ॥
विकलत्रयों की योनि में भी, वे न करते वास हैं ।
देतीं अठावन लाख गति, इसविधि न उनको त्रास हैं ॥

५८ लाख योनियाँ कौनसी ? नित्यनिगोद, इतरनिगोद, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, पृथ्वीकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, और चौन्द्रिय योनियां । ये योनियाँ अपने भेदों सहित ५८ लाख की संख्या में होती हैं । तीन तरह के पात्रों को दान देने वाला, इन योनियों को कदापि धारण नहीं करता ।



सुद्ध समिक्त संजुक्तं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
ते नरा दुःष हीनस्य, पात्र दान रतो सदा ॥२६९॥

सम्यक्त्व से जगमग अरे ! जिनके हृदय के वास हैं ।
जो नित्यप्रति, प्रतिनिमिष करते, शुद्ध तत्व प्रकाश हैं ॥
जो दान देने में सदा, रहते भली विधि लीन हैं ।
वे जीव होजाते सकल, मानव-दुखों से हीन हैं ॥

जो शुद्ध सम्यक्त्व के धारी हैं; शुद्धात्म तत्व का प्रकाश करने वाले हैं और निरन्तर जो दान देने में तल्लीन रहा करते हैं, ऐसे पुरुष-श्रेष्ठ मानव योनि में जो दुःख उठाना पड़ते हैं, उनसे बिलकुल छूट जाते हैं; उन्हें मानवयोनि में फिर दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ता ।

पात्र दानं च चत्वारि, न्यान आहार भेषजं ।
अभयं च भयं नास्ति, दानं पात्र सदा बुधै ॥२७०॥

यह दान कर देता है, मानव के भयों का नाश है ।
करती है विद्वत् राशि इससे. दान में विश्वास है ॥
है ज्ञानदान प्रथम, द्वितिय आहारदान महान है ।
औषध तृतीय सुदान, चौथा दान अभय सुजान है ॥

पात्रों को जो दान दिया जाता है वह चार प्रकार का होता है (१) ज्ञानदान (२) आहारदान (३) औषधिदान (४) अभयदान । ये दान मनुष्यों को भय से रहित बना देते हैं, अतः जो विद्वान होते हैं, वे सदा ही दान देने की भावना किया करते हैं ।



न्यान दानं च न्यानं च, आहार दान आहार यं ।
अवाधं भेषजस्चैव, अभयं अभय दान यं ॥२७१॥

रे ! ज्ञानदान प्रदान करता, ज्ञानियों को ज्ञान है ।
आहार से आहारमय, रहता सदैव निधान है ॥
भैषज्यदानी नर न रहता, हीन, क्षीण, मलीन है ।
रहता अभयदानी सदा ही. रे ! भयों से हीन है ॥

ज्ञानदान देने से उस भव में अनंतज्ञान की प्रगति होती है; आहारदान देने से भवन अन्न और खाद्यपदाथ से परिपूर्ण रहता है; औषधिदान देने से तन निरोग और स्वस्थ बना रहता है तथा अभयदान देने से दानी के समस्त प्रकार के भय निर्मूल हो जाते हैं। इतना ही नहीं, परभव में निर्भय योनियों को प्राप्त करता है ।

पात्र दानं च सुधं च, कर्मं षिपति सदा बुधै ।
जे नरा दान चिंतते, अविरत संमिक दिस्टतं ॥२७२॥

विज्ञो ! सुनो जो पुरुष देते, पात्रदान महान हैं ।
उनके सभी अघ टूट जाते, लौह-बंध समान हैं ॥
जिसके हृदय में दान की, सद्भावनामय सृष्टि है ।
वह पुण्यवान सुजान ही रे ! अव्रत सम्यग्दृष्टि है ॥

पात्र दान से आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म एकदम क्षय हो जाते हैं। जो मनुष्य इस पात्र दान के चिन्तवन में लीन रहते हैं, वास्तव में वे ही पुरुष अव्रत सम्यग्दृष्टी कहलाने के योग्य हुआ करते हैं।



पात्र दानं वट बीजं, धरनी वृद्धंति जेतवा ।
न्यान वृद्धंति दानस्व, दानं चिंता सदा बुधै ॥२७३॥

यह पात्र दान सुनो सुमति, वट बीज का उपमान है ।
जो क्षोणि में जाकर निकलता, बन विटप असमान है ॥
यह दान वृद्धिंगत बनाता, ज्ञान का आगार है ।
बहती है बुधजन के हृदय में, नित्यप्रति यह धार है ॥

पात्रों को दिया हुआ दान ठीक वट बीज के सदृश हुआ करता है। जिस तरह वट का बीज देखनेमें तो छोटा होता है, किन्तु भूमिमें बोये जाने के पश्चात् जिस तरह वह एक विशाल वट वृक्ष के रूपमें बाहर निकलता है, उसी तरह पात्र दान देखने में तो कुछ नहीं मालूम पड़ता, किन्तु दिये जाने के पश्चात् वह भी वट वृक्ष की नाईं ज्ञान का विशाल रूप धरकर, फलता-फूलता और पथिकों को अपनी शीतल छायामें आश्रय देता है। अतः जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं, वे हमेशा ही पात्रों को दान देने का चिन्तवन किया करते हैं।

पात्र दान मोष्य मार्गस्य, कुपात्र दुरगति कारनं ।
विचारनं भव्य जीवानं, पात्र दान रतो सदा ॥२७४॥

सत्पात्रदल को दान देना, मोक्ष का आधार है ।
दुष्पात्र दल को दान देना, अरे ! दुर्गति द्वार है ॥
इसलिये भव्यों को सदा, यह ध्यान देना चाहिये ।
सत्पात्र जो हों बस उन्हीं को, दान देना चाहिये ॥

जहां सत्पात्रों को दान देना मोक्ष का कारण है, वहां ही कुपात्रों को दान देना दुर्गति का कारण हुआ करता है। अत: विवेकी पुरुषों को चाहिये कि दान देने के पहिले वे देख लें कि जिस पुरुष को वे दान दे रहे हैं, वह पात्रों की तीन कोटियों में से किसी कोटि का पात्र है अथवा नहीं। यदि वह पात्र कुपात्र ठहरता है तो उन्हें उसे कदापि दान न देना चाहिये।



कुपात्र

कुगुरु कुदेव उक्तं च, कुधर्मं प्रोक्तं सदा ।
कुलिंगी जिन द्रोही च, मिथ्या दुरगति भाजनं ॥२७५॥

जो मूढ़ करते रे ! कुधर्मों का सदा उपदेश हैं ।
सर्वज्ञद्रोही जो अरे ! जिनके कुलिंगी वेश हैं ॥
जो नर्क के आधार दुर्गतिमूल हैं दुखधाम हैं ।
वे पात्रता से हीन हैं, दुष्पात्र उनके नाम हैं ॥

जो कुगुरु कुदेव या कुधर्म की उपासना करने का उपदेश देते हैं या उनका कथन करते हैं; जिनके कुभेष हैं; जो जिनद्रोही हैं और अपने शिष्यों को व स्वयं को जो दुर्गति में ले जाने वाले हैं, ऐसे पुरुष कुपात्रों की कोटि में आते हैं।

कुपात्र दान का फल

जस्य दानं च विनयं च, कुन्यान मूढ दिस्टतं ।
तस्य दान चिंतनं येन, संसारे दुष दारुनं ॥२७६॥

दुष्पात्र दल को दान देना, रे! महा अज्ञान है ।
दुष्पात्र दल की विनय करना, रे! असत् श्रद्धान है ॥
दुष्पात्र दल की पात्रता, दुष्पात्र दल का चिंतवन ।
करता है दारुण दुःख से, परिपूर्ण संसृति का सृजन ॥

कुपात्रों को दान देना, उनकी विनय करना, यह सब मूढ़दृष्टिता है। जो कोई ऐसे पुरुष को अपने दान का पात्र बनाने का चिंतवन करता है, वह संसार में अनन्तकाल तक दारुण दुख उठाता है।



पात्रता और कुपात्रता में भेद

पात्र अपात्र विसेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते ।
तृण भुक्तं च दुग्धं च, दुग्ध भुक्तं विषं पुनः ॥२७७॥

जिस भाँति होती सर्पिणी, और गौ अरे! असमान हैं ।
होते हैं पात्र कुपात्र में, उस भाँति भेद महान हैं ॥
गौ घास खाती, किन्तु देती नित्य मीठा दुग्ध है ।
सर्पिणि उगलती गरल, पीती यदपि दुग्ध विशुद्ध है ॥

पात्र और कुपात्र परस्पर उसी तरह भिन्न हुआ करते हैं, जिस तरह गौ और सर्पिणी। गाय तृण खाती है पर उसके बदले में मीठा दूध देती है, सर्पिणी दूध पीती है पर उसके बदले विष का वमन करती है, जो मनुष्यों के लिये प्राणघातक ही सिद्ध होता है।

पात्र दानं च भावेन, मिथ्या दिस्टी च सुद्धये ।
भावना सुद्ध समपूरनं, दानं फलं स्वर्ग गामिनं ॥२७८॥

रे ! दान के सद्भाव की, होती है वह शुभ प्रतिक्रिया ।
इससे पतित से पतित, बन जाता है पावनतम हिया ॥
जो दान के सद्भाव से परिपूर्ण, समकितवान हैं ।
वे नर निशंकित प्राप्त करते, स्वर्ग सौख्य महान हैं ॥

सत्पात्रों को दान देने की भावना करने से मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के अन्तर से भी अंधकार का पर्दा हट जाता है और वे पतित से पावन बन जाते हैं। जो मनुष्य दान देने की भावना से परिपूर्ण रहते हैं, वे निश्चय ही स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करते हैं ।



पात्र दान रतो जीवा, संसार दुष्य निपातते ।
कुपात्र दान रतो जीवा, नरय पतितं ते नरा ॥२७९॥

सत्पात्रदल को दान देने में, सदा जो लीन हैं ।
वे पुरुष बन जाते नियम से, भव दुःखों से हीन हैं ॥
जो पुरुष देते रे ! कुपात्रों को, चतुर्विधि दान हैं ।
पतितोन्मुख हो भोगते वे, नर्क-दुःख महान हैं ॥

जो मनुष्य सत्पात्रों को दान देने में तल्लीन रहा करते हैं, वे संसार के दुखों को चूर्ण कर, उनसे रहित हो जाते हैं, पर जो पुरुष कुपात्रों को दान दिया करते हैं, वे निश्चय ही नर्क के कूप में गिरकर, भयंकर से भयंकर दुख उठाते हैं ।

पात्र दानं च प्रति पूर्नं, प्राप्तं च परमं पदं ।
सुद्ध तत्वं च सार्धं च, न्यान मयं सार्धं धुवं ॥२८०॥

यह पात्रदान महान शुभ, अतिशय सुखद सुख-सार है ।
होता है इससे प्राप्त, चिर सुख-शान्ति का आगार है ॥
आगार ? वह जिसमें कि करता, आत्म-पद किल्लोल है ।
जिसमें रमण करता निरन्तर, ज्ञान ध्रुव अनमोल है ॥

तीन तरह के उत्तम, मध्यम, व जघन्य पात्रों को दान देने का उत्कृष्ट फल उस अविचल सुख की प्राप्ति है, जो मुक्ति-सौख्य कहलाता है। जहाँ आवागमन के बंध कट जाते हैं और पुरुष पूर्ण स्वाधीन होकर अनन्त सुख के नन्दन विपिन में विहार करता है। यह सुख शुद्ध आत्मिक तत्व सहित होता है और उसमें अनन्तज्ञान किल्लोल किया करता है।



पात्रं प्रमोदनं कृत्वा, त्रिलोकं मुद उच्यते ।
जत्र जत्र उत्पाद्यंते, प्रमोदं तत्र जायते ॥२८१॥

जो पात्रदल को देखकर, पाता प्रमोद अपार है ।
वह पुरुष बन जाता, त्रिलोकों के गले का हार है ॥
जिस लोक को करतीं हैं जाकर, ये विभूति निहाल हैं ।
उस लोक के अंतर उन्हें, आ डालते वर-माल हैं ॥

जो पुरुष सत्पात्रों को देखकर हर्षविभोर हो जाते हैं, त्रिभुवन तली भी उनको देखकर फूली नहीं समाती अर्थात उनके दर्शन से भी जगत्रय में आनन्द ही आनन्द बरसता है। वे दानी जीव जहाँ जहाँ जन्म लेते हैं, उनके दर्शनों से वहां वहां ही प्रमोद उत्पन्न होता है और उन्हें लोक के अंतरतम का अनन्त स्नेह प्राप्त होता है ।

पात्रस्य अभ्यागतं कृत्वा, त्रिलोकं अभ्यागतं भवेत् ।
जत्र जत्र उत्पाद्यंते, तत्र अभ्यागतं भवेत ॥२८२॥

जो पात्र–दल का मुदित हो, करता महा आतिथ्य है ।
उस पुरुष का त्रिभुवन तली, आतिथ्य करती नित्य है ॥
जिस लोक में जा ये पुरुष, लेते बिमल अवतार हैं ।
उस लोक के बनते निशंकित, वे हृदय के हार हैं ॥

जो सत्पात्रों को देखकर, उनका सम्मान करते हैं; उनकी अतिथि के समान विनय करते हैं, उनको त्रैलोक्य में विनय और सम्मान प्राप्त होता है। जहाँ जहाँ वे पुण्यवान जीव उत्पन्न होते हैं, वहीं वहीं लोक उन्हें अपना अतिथि समझने में अपना सौभाग्य मानते हैं और उन्हें असाधारण आतिथ्य भेंट करते हैं।



पात्रस्य चिंतनं कृत्वा, तस्य चिंता स चिंतये ।
चेतयंति प्राप्तं वृद्धिं, पात्र चिंता सदा बुधे ॥२८३॥

जो पात्रदान सुचिन्तवन में, नित्य रहता चूर है ।
शुभ भाव से उसका हृदय, रहता सदा भरपूर है ॥
चैतन्य को वह नर बनाता, भलीविधि उपभोग्य है ।
सत्पात्रदल के लाभ का, शुभ चिन्तवन ही योग्य है ॥

जो मनुष्य पात्रदान के चिंतवन में लवलीन रहा करता है, उसका हृदय हमेशा शुभ भावों से भरा रहता है। "मुझे सौम्य पात्र को दान देने का अवसर कब मिले" ऐसी भावना करने वाला अपनी आत्मा के चैतन्य गुण का सबसे अच्छा उपयोग करता है, यह एक मानी हुई बात है। अतः विद्वानों को दान देने की भावना हमेशा रखते रहना चाहिये।

कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा, दुर्गति अभ्यागतं भवेत् ।
सुगति तत्र न दिस्टंते, दुर्गतिं च भवे भवे ॥२८४॥

जो पुरुष करते रे ! कुपात्रों का अतिथि-सत्कार हैं ।
वे खोलते अपने लिये, दुर्गति-भवन का द्वार हैं ॥
दुष्पात्र दल को दान देने में, कुगति ही कुगति है ।
मिलतीं नहीं, इस दान से रे ! भूलकर भी सुगति है ॥

जो मनुष्य कुपात्रों को देखकर, उनका आतिथ्य करता है; उनका सत्कार कर उन्हें विनयपूर्वक दान देने का चिंतवन करता है, उसका जन्म जन्म में दुर्गतियों के रूप में महान आतिथ्य होता रहता है। मरने के बाद उसे अच्छी गति के फिर दर्शन नहीं होते। हाँ, दुर्गतियां उसकी दृष्टि के सम्मुख अवश्य बनी रहती हैं।



कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा, इन्द्री इत्यादि थावरं ।
तिरियं नरय प्रमोदं च, कुपात्र दान फलं सदा ॥२८५॥

जो नर कुपात्र विलोक कर, पाते महान प्रमोद हैं ।
वे जीव उस भव में अरे ! बनते दरिद्र निगोद हैं ॥
पाते हैं वे भी मोद, पर किस योनि में, कुछ ज्ञात है ?
उस योनि में जो, नर्क, तिर्यक् नाम से विख्यात है ॥

जो मनुष्य कुपात्रों को देखकर, हर्षविभोर हो जाते हैं, वे मरने के पश्चात् एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय में जन्म लेते हैं। उनको भी किसी वस्तु को देखकर, प्रमोद की सृष्टि होती है, प्रमोद बरसता है। पर कहां ? किस लोक में ? तिर्यंच योनि में ! नर्क लोक में !!

पात्र दानं च सुद्धं च, दात्रं सुद्ध सदा भवेत् ।
तत्र दानं च उक्तस्य, सुद्ध दिस्टी सदा मयं ॥२८६॥

सत्पात्रदल को दान देना, पुण्यबंध महान है ।
इससे हृदय दातार का होता, विमल अम्लान है ॥
जिस भाँति दर्शन, मोक्ष-सुख का मूल है, आधार है ।
यह पात्र-दान उसी तरह रे ! मोक्ष-सुख का द्वार है ॥

पात्रदान देना महान पुण्य बंध का कारण है। इससे दातार का हृदय सब मलों से रहित होकर शुद्ध बन जाता है और उसके लिये मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है। जिस तरह शुद्ध सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है, उसी तरह सत्पात्र दल को दान देना भी मोक्षप्राप्ति का एक अमोघ उपाय है।



पात्र सिष्यां च दात्रस्य, दात्र दानं च पात्र यं ।
दात्र पात्रं च सुद्धं च, दानं निर्मलतं सदा ॥२८७॥

सत्पात्र को दातार देता, रे ! जहां शुभ दान है ।
मिलता उसे उससे वहीं, उपदेश शुद्ध महान है ॥
होता जहाँ सत्पात्र, होता जहां शुभ दातार है ।
यह दान हो जाता वहाँ, चिर-सौख्य-पारावार है ॥

जहां दातार, सत्पात्र को किसी प्रकार का दान देता है, वहां उसे सत्पात्र से कई प्रकार की उत्तम शिक्षायें भी प्राप्त होती हैं। जिस जगह दातार और पात्र दोनों एक निर्मल स्वभाव वाले मिल जाते हैं, वहाँ दान अपूर्व शाश्वत सुख का रूप धारण कर लेता है।

दात्रं सुद्ध संमक्तं, पात्रं तत्र प्रमोदलं ।
दात्र पात्रं च सुद्धं च, दानं निर्मलतं सदा ॥२८८॥

दातार यदि शुचि शुद्ध निर्मल दृष्टि का सत्पात्र है ।
तो पात्र का आल्हाद से, परिपूर्ण बनता गात्र है ॥
यदि पात्र और दातार दोनों, शुद्ध समकितवान हैं ।
तो दान के परिणाम, रे ! निःशंक ध्रौव्य महान हैं ॥

यदि दान देने वाला शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी है, तो दान लेने वाले पात्र को उसे देखकर अत्यंत ही प्रमोद होता है। जिस स्थल पर दातार और पात्र दोनों शुद्ध सम्यग्दृष्टि मिल जाते हैं उस जगह दान महान निर्मल, पुण्य और ध्रुव स्वरूप धारण कर लेता है।



पात्रं जत्र सुद्धं च, दात्रं प्रमोद कारनं ।
पात्र दात्र सुद्धं च, उक्तं दान जिनागमं ॥२८९॥

यदि पात्रदल सत्पात्र, निर्मल शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।
दातार के होती हृदय में, मोद की सद्वृष्टि है ॥
जिस जगह दाता, पात्र दोनों पक्ष, पूर्ण समान हैं ।
रे उस जगह ही 'दान' है, कहते विराग महान हैं ॥

जहाँ दान का लेने वाला पात्र शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है, वहां दान देने वाले का अंतस्तल प्रमोद से भर जाता है। पांचों इन्द्रियों को निस्तेज बना देने वाले श्री वीतराग प्रभु कहते हैं कि जहाँ दाता और पात्र परस्पर प्रमोद उत्पन्न करने वाले होते हैं, वहां ही वास्तविक 'दान' का आदान-प्रदान होता है।

मिथ्यादिस्टी च दानं च, पात्रं न गृहिते पुनः ।
यदि पात्रं गृहिते दानं, पात्रं अपात्र उच्यते ॥२९०॥

दातार मिथ्या-दृष्टि है तो, पात्र का यह धर्म है ।
वह दान अस्वीकृत करे, यह दान क्योंकि अधर्म है !
यदि पात्र मिथ्यादृष्टि से, लेता किसी विधि दान है ।
तो वह नहीं है पात्र रे ! वह नर अपात्र महान है ॥

यदि दान करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि है; उसको अपने आत्म तत्व में प्रतीति होने की अपेक्षा पर पदार्थों में श्रद्धान है, तो दान लेने वाले का यह कर्तव्य है कि यदि वह वास्तव में दान का सुपात्र है, तो उस मिथ्यादृष्टि के द्वारा दिये जाने वाले दान को वह कदापि अंगीकार न करे। यदि वह दान उस पात्र के द्वारा ग्रहण किया जाता है, तो यह सुनिश्चित है कि वह पात्र, पात्र नहीं अपात्र है। याने बाहिर से वह पात्र का लक्षणधारी अवश्य मालूम पड़ता है, किन्तु अंतरंग में वह पात्रता से बिलकुल शून्य है।



मिथ्या दान विषं प्रोक्तं, घृतं दुग्ध विनासये ।
नीच संगेन दुग्धं च, गुणं नासन्ति यत्पुनः ॥२९१॥

जिस भांति विष संयोग से, घृत दुग्ध होते नाश हैं ।
उस भांति मिथ्यादान से, होते सुजन ! बहु त्रास हैं ॥
जो मूढ़ मिथ्यादृष्टि से, लेते किसीविधि दान हैं ।
वे भी उसी ही भाँति, बन जाते कुमति अज्ञान हैं ॥

जिस प्रकार विष, घी या दूध में मिलकर उन पदार्थों का सर्वनाश कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों द्वारा संकल्प किया हुआ या दिया हुआ यह मिथ्यादान, जिस किसी पात्र के हाथ में पड़ जाता है, उसी पात्र का वह सर्वस्व धूल में मिला देता है। जो मूर्ख, मिथ्यादृष्टियों का दिया हुआ दान ग्रहण करते हैं, वे उसके प्रभाव से उस मिथ्यादृष्टि के समान ही अज्ञान और मूढ़मति बन जाते हैं।

मिथ्यादृष्टियों का दान

मिथ्यादिस्टी मंगेन, गुणं निर्गुनं भवेत् ।
मिथ्यादिस्टी जीवस्य, संगति तजंति ते बुधाः ॥२९२॥

रे ! मूढ़ का सहवास होता, इस तरह अनुदार है ।
गुण अगुण बनजाते हृदय बनता मलिन सविकार है ॥
इसलिये जो विद्वान हैं, उनका यही बस धर्म है ।
वे मूढ़-संगति छोड़ देवें, क्योंकि वह अपकर्म है ॥

मिथ्यादृष्टियों के संसर्ग में रहने से, मनुष्य के गुण अवगुणों में परिवर्तित हो जाते हैं और वह भी उन मिथ्यादृष्टियों सा ही अज्ञान बन जाता है। अतएव बुद्धिमानों को उचित है कि वे उन पुरुषों की, जिनको कि सच्चे आप्त सच्चे गुरु व सच्चे आगमों पर श्रद्धान नहीं है या जिन्हें स्वयं अपने आत्मा पर प्रतीति नहीं है और वाह्य पुद्गल पदार्थों में जिन्हें विश्वास है, संगति भूलकर भी नहीं करें।



मिथ्याती संगते जेन, दुरगति भवति ते नरा ।
मिथ्या संग विनिर्मुक्तं, सुद्ध धर्मरतो सदा ॥२९३॥

जो जीव मिथ्यादृष्टि का, करते अरे ! सहवास हैं ।
वे भोगते अगणित समय तक नर्क में बहुत्रास हैं ॥
मिथ्यात्वियों का संग इससे, रे ! सदा ही हेय है ।
शुद्धात्मा में लीन हो तू, बस इसी में श्रेय है ॥

जो पुरुष भूलकर भी मिथ्यादृष्टि मानवों की संगति करते हैं और उनके संग विचरते हैं, वे अनेक भवों तक दुर्गति के चक्र में पड़कर अपने को नष्ट किया करते हैं। अतएव जीवन का श्रेय इसी में है कि मिथ्यादृष्टियों की संगति छोड़कर, मनुष्य अपनी आत्मा में आसक्ति उत्पन्न करे और निरन्तर उसी की अर्चना में लीन रहे।

मिथ्या मंग न कर्तव्यं, मिथ्या वाम न वामितं ।
दूरेहि त्यजंति मिथ्यात्वं, देमो त्यागंति तिक्तयं ॥२९४॥

मिथ्यात्व का सहवास करना, रे कदापि न इष्ट है ।
मिथ्यात्व से अंतर सजाना, रे ! महान अनिष्ट है ॥
मिथ्यात्व-वैरी का कदापि, न नाम लेना चाहिये ।
जिस देश में हों मूढ़, उसमें पग न देना चाहिये ॥

मिथ्यात्व का या मिथ्यादृष्टियों का कदापि भी संग नहीं करना चाहिये; मिथ्यात्व से रंगी हुई किसी भी वासना को कभी भी हृदय में स्थान नहीं देना चाहिये और जिस देश में या जिस क्षेत्र में ये मूर्ख लोग बसते हों, उस देश या उस क्षेत्र में जाने के लिये कभी पद भी नहीं बढ़ाना चाहिये ।



मिथ्या दूरेहि वाचंते, मिथ्या संग न दिस्टते ।
मिथ्या माया कुटुम्बस्य, तिक्के विरचे सदा बुधै ॥२९५॥

मिथ्यात्व से विज्ञो ! सदा ही, दूर रहना चाहिये ।
मिथ्यात्व की जलधार में, पड़कर न बहना चाहिये ॥
मिथ्यात्व-माया-कीच से रे ! जो सना परिवार है ।
उसका कदापि न संग हो, केवल इसी में सार है ॥

मिथ्यात्व या मिथ्यात्वी को दूर ही से सोच समझ लेना चाहिये; उसी दिन के प्रभात को सर्वोत्तम समझना चाहिये, जिस दिन इन मूर्खों से भेंट न हो । मिथ्या और मायाचार से सना हुआ जो कुटुम्ब हो, उससे सर्वदा दूर ही रहा जाय, इसी में विद्वान गण सार समझते हैं ।

मिथ्यातं परं दुष्यानी, संमिक्तं परमं सुषं ।
मिथ्या माया त्यक्तंति सुद्धं संमिक्त मार्धयं ॥२१६॥

मिथ्यात्व दुख का सिन्धु है, मिथ्यात्व दुख का मूल है ।
सम्यक्त्व सुख का केन्द्र है, सम्यक्त्व सुख का फूल है ॥
इसलिये यह ही उचित है, मिथ्यात्व-मल का त्याग हो ।
सम्यक्त्व को दृढ़तम बनाने में, जगत का राग हो ॥

आत्मा को छोड़कर पुद्गल पदार्थों को सारभूत समझकर उनकी पूजा करना, यही मिथ्यात्व सब से बड़ा दुख है। और आत्म तत्व को ही मोक्ष का साधन समझकर, उसी में तल्लीन रहना, यही सम्यक्त्व सबसे बड़ा सुख है अतः विवेकी पुरुषों को चाहिये कि वे दुःख के द्वार मिथ्यात्व का वर्जन कर दें और सुख के समुद्र सम्यक्त्व को अपना प्रगाढ़ मित्र-अपने जीवन का साथी बनावें।



रात्रि-भोजन त्याग



अनस्तमितं वे घडियं च, सुद्ध धर्म प्रकासये ।
सार्धं सुद्ध तत्वं च, अनस्तमितं रतो नरा ॥२१७॥

सूर्यास्त के दो घड़ी पहिले ही, जो नर विद्वान हैं ।
वे पूर्ण कर लेते हैं अपना, नित्य भोजन-पान हैं ॥
करते हैं इससे वे जहां, तत्वार्थ में श्रद्धान हैं ।
निज आत्मा का वे वहाँ, करते प्रकाश महान हैं ॥

जो मनुष्य विवेक और अविवेक को समझते हैं, वे सूर्य अस्त होने के दो घड़ी पहिले ही अपना सन्ध्या का दैनिक भोजन समाप्त कर लेते हैं। इस सूर्यास्त के पहिले भोजन करने से, जहां वे तत्वों में अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा प्रकट करते हैं, वहां ही शुद्धात्म धर्म का भी वे एक अनुपम प्रकाशन करते हैं और इस तरह धर्म के प्रचार में बहुमूल्य हाथ बंटाते हैं।

अनस्तमितं कृतं जेन, मन वच कायं कृतं ।
सुद्ध भावं च भावं च, अनस्तमितं पालयेत् ॥२९८॥

मन, वचन, तन से त्याग जिसने, रात्रि-भोजन कर दिया ।
सद् श्रेष्ठ भावों से समझ लो, हृदय उसने भर लिया ॥
उसका अहिंसा धर्म में रे ! पूर्णतम श्रद्धान है ।
वह रात्रि-भोजन-त्याग का, साधक महान, महान है ॥

जिस पुरुष ने मन से, वचन से और तन से रात्रि भोजन का त्याग कर दिया, उसने शुद्ध और निर्मल भावों से अपने हृदय के सरोवर को ओतप्रोत कर लिया ! वह शुद्ध अहिंसा धर्म का पालने वाला है और यदि कोई वास्तव में ही रात्रिभोजन का त्याग करने वाला पुरुष है, तो वह है ।



अनस्तमितं जेन पालंते, वासी भोजन तिक्तये ।
रात्रि भोजन कृतं जेन, भुक्तं तस्य न सुद्धये ॥२९९॥

जो पुरुष करते, रात्रि-भोजन-त्याग का हैं आचरण ।
उनको उचित है वे नहीं, खावें कभी बासा अशन ॥
जो जीव बासे अशन का, करते अरे ! व्यवहार हैं ।
वे रात्रि-भोजन-त्याग का, करते न पूर्णाचार हैं ॥

जो मनुष्य रात्रि में भोजन न करने का व्रत ठान चुके हैं, उनको चाहिये कि वे एक दिन पूर्व का बना हुआ या रात में बना हुआ बासा अन्न भी नहीं खावें। जो मनुष्य बासे अन्न को ग्रहण करते हैं, वे सम्यक विधि से रात्रिभोजन-त्यागी हैं, यह कदापि नहीं कहा जा सकता ।

खादं स्वादं पीवं च, लेपं आहार क्रीयते ।
वासी स्वाद विचलंते, तिक्तं अनस्तमितं कृतं ॥३००॥

जो खाद्य, स्वाद औ लेह्य, पेयों-सा किसी विधि का अशन ।
करते नहीं सूर्यास्त के पीछे, किसी विधि से ग्रहण ॥
बासे या विकृत अन्न को भी, जो न खाते नेक हैं ।
वे रात्रि-भोजन-त्याग व्रत को. पालते सविवेक हैं ॥

रात्रि भोजन त्याग से क्या तात्पर्य ? तात्पर्य यही कि मनुष्य को सूर्यास्त होने के दो घड़ी पहिले ही खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, जो यह चार प्रकार का भोजन है, उसे समाप्त कर लेना चाहिये। जो मनुष्य इन चार भोजनों में से अवधि के बाद किसी भी भोजन को ग्रहण नहीं करता है, या बासा, या जिसका स्वाद बिगड़ गया है, ऐसे अन्न को नहीं खाता है, वही मनुष्य वास्तव में रात्रि भोजन का त्यागी कहा जा सकता है।



अनस्तमितं पालितं जेन, रागादि दोष वंचितं ।
सुद्ध तत्वं च भावं च, संमिक दिष्टी च पस्यते ॥३०१॥

जो पुरुष करता रात्रि में, कोई न भोजन पान है ।
वह रागद्वेषों को नहीं, देता हृदय में स्थान है ॥
शुद्धात्म के ही चिन्तवन में, जिस पुरुष का राग है ।
उसही विवेकी जीव का बस, रात्रि-भोजन त्याग है ॥

जो रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग कर देता है, उस पुरुष में फिर रागद्वेष आदिक दोष नहीं दिखाई देते हैं। एक मात्र शुद्धात्म तत्व की भावना करना ही उस पुरुष-श्रेष्ठ का कर्तव्य हो जाता है और वह उसी की अर्चना में तल्लीन रहता है। अतः रात्रि भोजन त्यागी का यह एक विशेष गुण होता है कि वह आत्मा का अनन्य पुजारी और शुद्ध सम्यक्त्व का धारी होता है।

सुद्ध तत्वं न जानंते, न संमिक्तं सुद्ध भावना।
स्रावकं जत्र न उत्पादंते, अनस्तमितं न सुद्धये ॥३०२॥

तत्वार्थ क्या है, रे! जिसे, इसका न कुछ भी भान है।
शुद्धात्म-समकित भावना से, जो निपट अनजान है॥
वह पुरुष श्रावक के गुणों से, सर्वथा ही हीन है।
रे! रात्रि-भोजन त्याग उसका, दोषयुक्त मलीन है॥

शुद्ध तत्व का क्या स्वरूप है या शुद्ध सम्यक्त्व की भावना का किस प्रकार आराधन किया जाता है, जिसे यह कुछ भी नहीं मालूम, वह पुरुष न तो श्रावक या सद्गृहस्थ कहलाने योग्य है, न कोई यह कह सकता है कि वह सम्यक् विधि से रात्रि भोजन का त्यागी व्रती पुरुष ही है। तात्पर्य यह कि रात्रि भोजन त्यागी पुरुष को शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी होना ही चाहिये।



जे नरा सुद्ध दिष्टी च, मिथ्या माया न दिस्टते।
देवं गुरं स्रुतं शुद्धं, संमत्तं अनस्तमितं व्रतं ॥३०३॥

जो आत्म-निष्ठावान हैं, जो जीव समकित-दृष्टि हैं।
मिथ्यात्व मायाचार की, जिनके न उर में सृष्टि हैं॥
सत्देव, गुरु और शास्त्र में, जिनको अमिट श्रद्धान है।
रे! रात्रि भोजन त्याग उनका ही, सफल मतिमान है॥

जो मनुष्य शुद्ध सम्यग्दर्शन के आभूषण से विभूषित रहते हैं; मिथ्यात्व या मायाचार जिन्हें छूकर भी नहीं जाता और सच्चे देव, सच्चे गुरु व सच्चे शास्त्र में जिन्हें अमिट श्रद्धान रहता है, वही पुरुष अधिकारपूर्वक यह कह सकने में समर्थ हो सकते हैं कि हम रात्रि-भोजन-त्याग व्रत को धारण करने वाले हैं।

छने हुए जल का पान

पानी गालितं जेनापि, अहिंसा चित्त संकये ।
विलछितं सुद्ध भावेन, फासू जल निरोधनं ॥३०४॥

जिसको अहिंसा धर्म में, अनुराग है-श्रद्धान है ।
वह सत्पुरुष बस छानकर करता सदा जलपान है ॥
विलछन क्रिया का नित्य वह, करता विमल व्यवहार है ।
प्रासुक सलिल को ढांककर रखता सदा अविकार है ॥

जिसके मनमें यह भय रहता है कि मुझसे प्रमाद वश या जानबूझकर दीन प्राणियों की हिंसा न हो जाये, वह हमेशा पानी को छानकर ही पीता है तथा अन्य अन्य उपयोगों में लाता है। जिस जलाशय से पानी निकाला जाता है, पानी छान लेने के बाद, उसी जलाशय में वह उस छन्ने में आये हुए जीवों को पहुँचा देता है। यह विलछनक्रिया कहलाती है। विशेष सावधानी रखने के लिये वह लवंग आदि कसायले द्रव्यों से पानी को गर्म कर प्रासुक भी बना लेता है और कोई चीज उसमें गिर न पड़े, इसलिये वह उसे हमेशा ढांककर ही रखता है।



जीव रष्या षट् कायस्य, संकये सुद्ध भावनं ।
स्रावगं सुध दिष्टी च, जलं फासू प्रवर्तते ॥३०५॥

जो श्राविकोचित गुणों का, परिपूर्ण शुद्ध निधान है ।
सम्यक्त्व से जिसका हृदय, प्रज्वलित सूर्य समान है ॥
षटकाय जीवों की सुरक्षा, मात्र जिसका ध्येय है ।
प्रासुक सलिल को ही बनाता, वह पुरुष निज पेय है ॥

पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्निकायिक, वनस्पति कायिक, तथा त्रसकायिक इन छह काय के जीवधारियों के प्राण बचाने के लिये, सम्यग्दर्शन से विभूषित श्रावक अपने नित्यप्रति के उपयोग में निरन्तर प्रासुक जल का ही सेवन करता है।

जलं सुद्धं मनः सुद्धं च, अहिंसा दया निरूपनं ।
सुद्ध दिस्टी प्रमाणं च, अव्रत स्रावग उच्यते ॥३०६॥

जो सत्पुरुष करता निरन्तर, शुद्ध जल का पान है ।
मन-शुद्ध हो वह जीव बन जाता, अहिंसा-प्राण है ॥
जो शुद्ध जल व्यवहार करता, वही समकितवान है ।
अव्रती सम्यग्दृष्टि की भी, यही सत् पहिचान है ॥

शुद्ध जल पीने से मन शुद्ध बन जाता है और शुद्ध मन ही अहिंसा और दया का निरूपण करने वाला हुआ करता। जो मनुष्य शुद्ध जल का अर्थात् छने हुए और प्रासुक जल का व्यवहार करता है, वही नियम से शुद्ध दृष्टि और वही नियम से अव्रती श्रावक कहा जाता है।



अशुद्ध कर्मों को छोड़कर सम्यक् षट्कर्मों का नियम मे पालन



अविरतं स्रावगं जेन, षट् कर्म प्रतिपालये ।
षट् कर्म द्विविधस्चैव, सुद्धं असुद्धं पस्यते ॥३०७॥

होते हैं अव्रत-शुद्धदृष्टी, जो गृहस्थ महामना ।
भव्यो सुनो, षट्कर्म को, करते सतत वे साधना ॥
षट्कर्म हैं दो भांति के कहते अनूप जिनेन्द्र हैं ।
हैं प्रथम शुद्ध, द्वितिय अपावन, मलिनता के केन्द्र हैं ॥

जो अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावक होते हैं, वे नित्यप्रति दैनिक षट्कर्म का पालन करते हैं। ये षट्कर्म दो कोटि के होते हैं। प्रथम शुद्ध और दूसरे अशुद्ध।

सुद्धं षट् कर्मं जेन, भव्य जीव रतो सदा ।
असुद्धं षट् कर्मं जेन, अभव्य जीव न संसयः ॥३०८॥

रे ! शुद्धतम षटकर्म में, रहता वही नर लीन है ।
जो मोक्षगामी भव्य है, अज्ञान से जो हीन है ॥
जो अशुचितम षट्कर्म में, करता सदा किल्लोल है ।
वह है अभव्य अमोक्षगामी, आप्त वचन अमोल है ॥

जिन्हें मोक्ष जाने का सौभाग्य प्राप्त होना है, ऐसे अज्ञान अंधकार से विहीन पुरुष तो शुद्ध षट्कर्म को समझते हैं और उनमें लीन रहा करते हैं. किन्तु जिनके भाग्य में आवागमन का चक्र ही लिखा हुआ है: मोक्ष का सुख जिन्हें कभी भी प्राप्त नहीं होगा, ऐसे अन्य पुरुष अशुद्ध षट्कर्मों के संपादन में ही अपना समय व्यतीत किया करते हैं और अपने संसार को बढ़ाया करते हैं ।



अशुद्ध षट्कर्म

सुद्ध असुद्धं प्रोक्तं च, असुद्धं असास्वतं कृतं ।
सुद्धं मुक्ति मार्गस्य, असुद्धं दुरगति भाजनं ॥३०९॥

जो हैं अशुचि षट्कर्म, वे विज्ञो ! महा अपवित्र हैं ।
वे अशुभ बंधन हेतु के, प्रत्यक्षदर्शी चित्र हैं ॥
जो शुद्ध सम्यक् कर्म हैं, वे मुक्ति के सोपान हैं ।
रे ! अशुभतम षट्कर्म दुर्गति हेतु, दुःखनिधान हैं ॥

अशुद्ध षट्कर्म जो कि अशुचि षट्कर्म भी कहलाते हैं, महान अपवित्र होते हैं । ये शाश्वत नहीं अशाश्वत होते हैं; सनातन नहीं, कल्पित होते हैं—गढ़े हुए होते हैं । शुद्ध षट्कर्म जहां मुक्ति के मार्ग होते हैं, वहां ही ये अशुद्ध षट्कर्म दुर्गतियों के आधार हुआ करते हैं ।

अमुद्धं प्रोक्तं स्चैव, देवलि देवपि जानते ।
षेत्रं अनंत हिंडंते, अदेवं देव उच्यते ॥३१०॥

जो मन्दिरों की मूर्तियों को, मानते भगवान हैं ।
वे जीव करते हैं असम्यक्, अशुभ कर्म महान हैं ॥
पाषाण को, जड़ को अरे, जो देव कहकर मानते ।
वे नर अनंतानंत युग तक, धूल जग की छानते ॥

मन्दिरों की मूर्तियों को या प्रतिमाओं को साक्षात् भगवान मानना, यह षट्कर्म के प्रथम अंग 'देवपूजा' का असम्यक् रूप है, जो अशुद्ध कर्म की कोटि में आता है। जो मनुष्य देवत्व से हीन अदेवों को देव कहकर पुकारता है; उनकी पूजा करता है, वह अनन्त बार जन्म धारण करता है और मृत्यु के मुख का ग्रास बनता है।



मिथ्या मय मूढ़ दिस्टी च, अदेवं देव मानते ।
परपंचं येन कृतं मार्द्धं, मानते मिथ्या दिस्टितं ॥३११॥

मिथ्यात्व मायाचारिता के, जो अगाध निधान हैं ।
वे ही अचेत अदेव को, कहते अरे भगवान हैं ॥
इन पत्थरों के देवताओं के, जो बिछते जाल हैं ।
फंसती है मिथ्यादृष्टि, जीवों की ही उनमें माल है ॥

जो मिथ्यात्व और मायाचार के निधान होते हैं, वे अंधविश्वासी ही 'अदेवों' को देव कहकर मानते हैं। इन पत्थरों के देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जो प्रपंच रचे जाते हैं, उनमें भी उन्हीं प्राणियों की श्रेणियाँ फंसती हैं, जिनकी आंखों पर मिथ्यात्व और मायाचारिता की पट्टियाँ चढ़ी होती हैं और जो सम्यक्त्व से हीन हुआ करते हैं।

ग्रंथं राग संजुक्तं, कषायं च मयं सदा ।
सुद्ध तत्व न जानंते, ते कुगरुं गुरु मानते ॥३१२॥

धन धान्य आदि परिग्रहों के, जो विपुल आगार हैं ।
दुर्दम कषायों के अरे जो, तिमिरपूर्ण बिहार हैं ॥
जो शुद्ध आत्मिक तत्व से, रे! पूर्णविधि अनजान हैं ।
ऐसे कुगुरु को मूढ़, सद्गुरु मान, देते मान हैं ॥

जो परिग्रहों की जंजीरों से जकड़े हुये हैं; कषायों के झुण्ड जिन पर मधुमक्खियों के समान भिनभिनाया करते हैं तथा शुद्ध तत्व क्या वस्तु है, इससे जो बिलकुल अनभिज्ञ हैं, ऐसे कुगुरुओं को, मूर्ख अज्ञान लोग गुरु मान लेते हैं और उनकी भक्ति भाव से पूजा विनय करते हैं। यह दूसरा असत् षट्कर्म का अंग अशुद्ध गुरु उपासना है ।



मिथ्या माया प्रोक्तं च, असत्यं सत्य उच्यते ।
जिन द्रोही वचन लोपंते, कुगुरुं दुर्गति भाजनं ॥३१३॥

मिथ्यात्व-मायाचार का, देते कुगुरु उपदेश हैं ।
कहते असद्तम कथन को, वे कुगुरु सत् सन्देश हैं ॥
सर्वज्ञ वचनों को छुपा, करते कि वे जिन-द्रोह हैं ।
इस भाँति दुर्गति-हेतु होते, ये कुसाधु-गिरोह हैं ॥

कुगुरु मिथ्यात्व और मायाचार से सना हुआ उपदेश जनता को दिया करते हैं; जो असत्य पदार्थ हैं, उनका सत्य पदार्थ के समान वे वस्तुस्वरूप समझाया करते हैं; सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी प्रभु के कहे हुए वचनों का वे लोप किया करते हैं, अतः सारी दृष्टियों से कुगुरु, प्राणियों को दुर्गति प्रदान करने वाले ही ठहरते हैं ।

अनेक पाठ पठनंते, वंदना श्रुत भावना ।
सुद्ध तत्व न जानंते, सामायिक मिथ्या मानते ॥३१४॥

चाहे अनेकों पाठ का, निशिदिन पठन, पाठन करो ।
चाहे अनेकों वंदनायें बांच, पूजाघर भरो ॥
पर यदि न तुमको ज्ञात क्या, शुद्धात्मा अभिराम है ।
तो यह तुम्हारी भक्ति, सामायिक सभी बेकाम है ॥

तीसरा दैनिक कर्म है सामायिक ! अनेक पाठ पढ़ो—लोगों को पढ़ाओ; वंदना करो—स्तुति करो—पूजा करो: आरती करो, कुछ करो, किन्तु जब तक तुम्हें शुद्धात्मा की अनुभूति प्राप्त नहीं होती; तुम्हारा मन आत्म-रमण का रसास्वादन नहीं करता, तुम्हारा यह क्रियाकाण्ड एकदम बेकाम है। तुम्हारी सामायिक पूर्णतया निष्फल है, क्योंकि विना आत्मानुभूति के सारे कार्य अशुद्ध ही हुआ करते हैं।



संजमं असुद्धं जेन, हिंसा जीव विरोधनं ।
संजम सुद्ध न पस्यंते, ते संजम मिथ्या संजमं ॥३१५॥

बस जीव रक्षा ही नहीं, संयम निपट अनजान है ।
निज आत्म संयम ही कि, संयम पूर्ण सत्य महान है ॥
जो आत्म-संयम पाल कर, करते न पूर्णाचार हैं ।
वे पुरुष संयम नाम पर, रचते असत् संसार हैं ॥

जो लोग यह समझते हैं कि प्राणीमात्र का वध नहीं करना, एक यही संयम है, दूसरा नहीं, वे लोग अज्ञान-अंधकार में हैं। उनका यह संयम अशुद्ध या अपूर्ण संयम है। अपनी आत्मा के परिणामों में विकृति उत्पन्न नहीं होने देना, यही आत्म संयम वास्तव में शुद्ध और सम्यक् संयम है। जो दैनिक षट्कर्म का चतुर्थ अंग है। जो पुरुष संयम के नाम पर अन्यान्य कर्म करते हैं, वे संयम का बाह्याचरण ही करते हैं, अंतरंग नहीं, और इस तरह संयम के नाम पर वे एक अभिनय की ही सृष्टि करते हैं।

अमुद्ध तप तप्तं च, तीव्र उपसर्ग सहं ।
सुद्ध तत्व न पस्यंते, मिथ्या माया तपं कृतं ॥३१६॥

चाहे अनेकों भाँति की, दारुण तपश्चर्या करो ।
उपसर्ग झेलो, कायक्लेशों से, हृदस्तल को भरो ॥
पर यदि न तुमको ज्ञात क्या, तत्त्वार्थ सुख का सार है ।
तो यह तुम्हारी तपश्चर्या, एक मायाचार है ॥

कितनी ही भांति की दारुण से दारुण तपश्चर्या करो; उपसर्गों पर उपसर्ग झेलो, किन्तु यदि तुम्हें शुद्ध तत्व का ध्यान नहीं है; यदि तुम्हारी इन क्रियाओं में सम्यक्त्व की पुट नहीं है, तो तुम्हारी यह तपश्चर्या केवल मायाचार के-केवल बाह्याडम्बर के और कुछ नहीं है। इस तरह की तपश्चर्या षट्कर्म का तप नाम का पांचवाँ अशुद्ध अंग होता है।



दानं असुद्ध दानस्य, कुपात्रं दीयते सदा ।
व्रत भंगं कृतं मूढा, दानं संसार कारनं ॥३१७॥

जो भी कुपात्रों को दिया जाता, अरे नर दान है ।
वह दान कुत्सित दान है, वह दान अशुचि महान है ॥
उससे पतित बनता जहां पर, शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।
करता सृजन आवागमन की, वह वहां ही सृष्टि है ॥

जो दान कुपात्रों को दिया जाता है, वह कभी भी शुद्ध नहीं होता; वह सर्वदा अशुद्ध ही हुआ करता है। ऐसा कुपात्रों को दिया हुआ दान जहां सम्यग्दृष्टि के व्रतों को खंड खंड कर देता है, वह वहीं आवागमन का कारण भी होता है, जिसके कारण प्राणी को अनंतानंत काल तक संसार सागर में गोते खाना पड़ता है। ऐसा दान षट्कर्म का अन्तिम अंग अशुद्ध दान कहलाता है।

ये षट् कर्म पालंते, मिथ्या अन्यान दिस्टते ।
ते नरा मिथ्यादिस्टी च, संसारे भ्रमनं सदा ॥३१८॥

मिथ्यात्व मायाचार से जो, पूर्ण विधि परिपूर्ण हैं ।
सम्यक न, पर षटकर्म करने में, जो नितप्रति चूर्ण हैं ॥
वे भेद-ज्ञान-विहीन मानव, मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं ।
संसार में वे नित बसाते, दुःखपूरित सृष्टि हैं ॥

मिथ्यात्व और अज्ञानता से पूर्ण जो पुरुष, किसी भी तरह दैनिक षट्कर्मों को पूरा करते हैं, वे महान मिथ्यादृष्टी होते हैं और सम्यक्त्व से रिक्त और मिथ्यात्व में दृढ़ होने के कारण वे हमेशा संसार के पात्र बना करते हैं।



ये षट् कर्म जानंते, अनेय विभ्रम क्रीयते ।
मिथ्यात गुरु पस्यंते, दुर्गति भाजन ते नरा ॥३१९॥

अगणित भ्रमों के—विभ्रमों के, जो विशाल निधान हैं ।
इस भाँति के करते असत, षट्कर्म जो अज्ञान हैं ॥
मिथ्यात्व का पत्थर गले से, बांधते वे मूढ़ हैं ।
इस भाँति दुर्गति-पंथ पर, होते वे नर आरूढ़ हैं ॥

अनेकों विभ्रमों और भ्रान्तियों से पूर्ण जो षट भांति के अशुद्ध कर्मों को संपादन करने में लगे रहते हैं, वे मूर्ख महा अज्ञान होते हैं। मिथ्यात्व के भारी पत्थर को गले से बांधकर, ऐसे पुरुष संसार-अटवी में भांति २ की दुर्गतियों के पात्र बना करते हैं।

सम्यग्षट्कर्म

षट् कर्म सुद्ध उक्तं च, सुद्ध समय सुद्धं ध्रुवं ।
जिन उक्तं षट् कर्मस्य, केवलि दिस्टि मंजुतं ॥३२०॥

सर्वज्ञ कहते, शुद्ध वे ही रे, सुनो षटकर्म हैं ।
जिनसे कि मानव लाभ करते, शुद्ध आत्मिक धर्म हैं ॥
जिनके कि करने में न, कुत्सित भाव करते काम हैं ।
करते हुए जिनको झलकते, शुद्ध आतमराम हैं ॥

शुद्ध षट्कर्मों को क्या व्याख्या ? शुद्ध षट्कर्म वही जिनको सम्पादन करते हुए प्राणियों को ध्रुव और महापवित्र आत्मधर्म का लाभ हो । ये षट्कर्म जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताये हुये हैं, अत: प्रामाणिक हैं और अविरल रूप से केवलियों की परम्परा से इसी तरह चले आते हैं ।



देव देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथ मुक्तं सदा ।
स्वाध्याय सुद्ध ध्यायंते, मंजमं मंजमं श्रुतं ॥३२१॥

देवाधिपति अरहन्त ही, बस मात्र हैं तारण तरण ।
निर्ग्रंथ गुरु के ही सदा, आराध्य हैं पावन चरण ॥
शुद्धात्मा का मनन ही, स्वाध्याय सुख का सार है ।
शास्त्रानुकूलाचरण ही संयम, सुखद अविकार है ॥

जिन्होंने अष्टकर्मों के समूह को समूल नष्ट कर दिया है, ऐसे देवों के देव सिद्ध प्रभु ही, या चार घातीय कर्मों के विध्वंसक अरहन्त परमात्मा ही आराधना के योग्य आप्त हैं; निर्ग्रन्थ गुरु ही उपासना के योग्य गुरु हैं; अपने शुद्धात्मा का मनन ही स्वाध्याय है और शास्त्रानुकूल आचरण ही सम्यक् संयम है ।

तपं अप्प सद्भावं, दानं पात्रस्य चिंतनं ।
षट् कर्मं जिनं उक्तं, सार्धं ति सुद्ध दिस्टतं ॥३२२॥

शुद्धात्मिक-सद्भाव में तपना ही, तप आचार है ।
सत्पात्र-दल का चिंतवन ही, दान चार प्रकार है ॥
इस भांति जो करते सश्रद्धा, नित्य प्रति षटकर्म हैं ।
कहते हैं तारण तरण, वे करते उपार्जन धर्म हैं ॥

आत्मिक सद्भावों में तपना ही वास्तविक तप और दान के लिये सत्पात्र दल का चिंतवन करना ही वास्तविक शुद्ध दान है। आप्त के कहे हुए इन षट्भाँति के शुद्ध कर्मों का जो नित्यप्रति साधन करते हैं, संसार में वही वास्तविक धर्मोपार्जन करते हैं।



देवं च जिन उक्तं च, ज्ञानं अप्प सद्भावं ।
नंत चतुष्टय जुत्तो, चौदस प्रान संजदो होई ॥३२३॥

शुद्धात्मिक आनंद में जो, पूर्ण हों तल्लीन हों ।
जिनके अनंत चतुष्टयों-सी, दिव्य निधि आधीन हों ॥
जो इंद्रियों के नाथ हों, दश प्राण के आधार हों ।
इन लक्षणों से युक्त जो हों, देव वे स्वीकार हों ॥

जो शुद्धात्म-रस में तल्लीन हों; अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, और अनन्त शक्ति सी जिनके पास चार अमूल्य शक्तियें विद्यमान हों; इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार अथवा दश प्राणों के जो स्वामी हों तथा पाँचों इन्द्रियों पर जिनका पूर्णाधिकार हो, वही आराधना के योग्य वास्तविक देव हैं।

देवो परमिष्टी मइयो, लोकालोक लोकितं जेन।
परमप्पा ज्ञानं मइयो, तं अप्पा देह मज्झंमि ॥३२४॥

जो सिद्ध हैं, करते अरे वे, मोक्ष में आलोक हैं।
केवल-मुकुर में वे निरखते, सतत लोकालोक हैं॥
भव्यो! तुम्हारी देह में भी, उसी प्रभु का वास है।
जिसमें रमण करता निरंतर, रे अनंत प्रकाश है॥

परम पद में स्थित जो सिद्ध परमात्मा हैं, वे अपार ज्ञान के स्वामी हैं—केवलज्ञान रूपी हैं। अपने केवलज्ञान रूपी दर्पण में वे तीनों लोकों को युगपत देखते हैं। हे भव्यो! तुम्हारी देह में जो आत्मा निवास करती है, उसमें भी उसी ज्ञानघन परमात्मा का निवास है; उसमें भी वही ज्योतिपुंज परमात्मा रमण करता है।



देह देवलि देवं च, उवइट्ठो जेहि जिन देही।
परमिष्टी च संजुत्तो, पूजं च सुद्ध संमिक्तं ॥३२५॥

भव्यो! तुम्हारी देह में जो, आत्मा अभिराम है।
वह क्या? स्वयं परमात्मा, चिद्रूप देव ललाम है॥
परमेष्ठियों के सब गुणों का, रे! वहाँ अस्तित्व है।
इस आत्म की आराधना ही, विज्ञजन सम्यक्त्व है॥

हे भव्यो! तुम्हारी देह-स्थित आत्मा में जो ज्योति जगमग जगमग किया करती है, वह क्या है? वह स्वयं परमात्मा है और कुछ नहीं। सिद्धों में जितने भी गुण रहते हैं, वे सब तुम्हारे उस परमात्मा में विद्यमान हैं। इस आत्मा रूपी परमात्मा की आराधना ही वास्तविक सम्यक्त्व है।

देवं गुनं विसुद्धं, अरहंतं सिद्ध आचार्य जेन ।
उवज्झाय साधु गुन सार्धं, पंच गुनं पंच परमिष्टी ॥३२६॥

अरहन्त, सिद्ध, विभूतिद्वय ये, देव ज्ञान निधान हैं ।
आचार्य, उवज्झाय, साधु ये, गुरुराज तीन महान हैं ॥
ये दीप्तियें गुणज्ञान की, होतीं वृहद् आगार हैं ।
कहते इन्हें श्री पंच परमेष्ठी, विमल अविकार हैं ॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच गुणी आत्मायें, जो विशाल ज्ञान की धारी होती हैं, पंच परमेष्ठी कहलाती हैं। ये पांचों विभूतियें 'देव' की कोटि में आती हैं। अतः इनमें से प्रत्येक का आराधन परमात्मा की अर्चना के समान ही महत्वपूर्ण और पवित्र है।



अरहंतं ह्रियंकारं, न्यानमयी त्रिभुवनस्य ।
नंत चतुष्टय सहियं, ह्रीयंकारं न्यान अरहंतं ॥३२७॥

चौबीस तीर्थंकर जिन्हें, तीनों भुवन का ज्ञान है ।
जिनमें अनंत चतुष्टयों का, वास सूर्य समान है ॥
देते सदा ही 'ह्रीं' शुचि पद में, प्रचंड प्रकाश हैं ।
अरहंत प्रभु करते हैं, इससे ह्रीं पद में वास हैं ॥

तीनों के भुवन के ज्ञाता तथा अनन्त चतुष्टय के धारी चतुर्विंश तीर्थंकर, जो स्वयं तरकर, संसार को तारते हैं, ह्रीं पद में वास करते हैं। इससे ह्रीं पद का ध्यान करने से सम्पूर्ण चतुर्विंश का व साथ ही साथ अरहन्त प्रभु का भी स्तवन हो जाता है।

सिद्ध सिद्ध ध्रुवं चिंते, उवंकारं च विंदते ।
मुक्तिं च ऊर्ध सद्भावं, ऊर्ध च सास्वतं पदं ॥३२८॥

ओंकार की, जिसका कि ऊर्ध्व स्वभाव, मुक्ति समान है ।
जो शाश्वत, ध्रुव, अमर, ऊर्ध्व अनंत ज्ञान निधान है ॥
आराधना करने से मिलता, सौख्य अपरम्पार है ।
इसका नमन होता है, सिद्धों को नमन बहुवार है ॥

ऊर्ध्व और मुक्ति स्वभाव के धारी शाश्वत, अचल और पुण्य ओम् का चिंतवन करने से सिद्धों की राशि और सिद्धालय दोनों का अभिवादन हो जाता है, क्योंकि ओम् मुक्ति और मुक्त-राशि के समान ही निराकार है और अनन्त सौख्य का धारी है ।



आचार्य आचरनं सुद्धं, तिअर्थ सुद्ध भावना ।
सर्वन्यं सुद्ध ध्यानस्य, मिथ्या तिक्तं त्रिभेदयं ॥३२९॥

आचार्य शुद्धाचरण का, करते निरंतर हैं कथन ।
रत्नत्रयों का मग्न हो, वे नित्य करते चिंतवन ॥
सर्वज्ञ का धरते निरंतर, ध्यान वे अभिराम हैं ।
मिथ्यात्व से रहते परे, उनके हृदय के धाम हैं ॥

आचार्य गण संसार को शुद्धाचरण का उपदेश देते हैं; रत्नत्रय की भावना से वे परिपूर्ण रहते हैं और उसी के चिंतवन में उनका अधिकांश समय व्यतीत होता है । तीनों मिथ्यात्व से वे सर्वथा परे रहते हैं और सर्वज्ञ प्रभु के ध्यान में निरन्तर निमग्न रहना उनके दैनिक जीवन का एक अंश होता है ।

उपाध्याय उपयोगे जेन, उपाय लष्यनं ध्रुवं ।
अंग पूर्व उक्तं च, सार्धं न्यानमयं ध्रुवं ॥३३०॥

रहता उपाध्याय वर्ग नित, उपयोग में लवलीन है ।
उपयोग ही तो जीव का, लक्षण विनाश–विहीन है ॥
पूर्वांग का देते वे नित, संसार में उपदेश हैं ।
तत्वार्थ का तो सहज ही, करते कथन सुविशेष हैं ॥

उपयोग चेतन का निश्चित लक्षण है। उपाध्याय इसी ज्ञानोपयोग में नित्यप्रति लवलीन रहा करते हैं। वे ग्यारह अंग व चौदह पूर्व का कथन करते व नित्यप्रति अपनी ज्ञानमय ध्रुव आत्मा की अर्चना में तल्लीन बने रहते हैं।



साधुस्व सर्व सार्धं च, लोकालोकं च सुद्धये ।
रयनत्रय मयं सुद्धं, तिअर्थं साधु जोइतं ॥३३१॥

सद्गुरु वही नित साधना में, मग्न जिनके ध्यान हैं ।
रे ! लोक और अलोक के, जिनको भलीविधि ज्ञान हैं ॥
शुद्धात्म की ही अर्चना में, जो निरन्तर चूर हैं ।
जो तीन रत्नों के अलौकिक, ज्ञान से भरपूर हैं ॥

साधु वही कहलाते हैं, जो साधना में निरन्तर मग्न रहते हों; लोकालोक का जिन्हें भली विधि ज्ञान हो; रत्नत्रय के जो अमूल्य निधान हों और शुद्धात्मा की अर्चना में तल्लीन रहते हुए जिन्हें अपूर्व आनन्द का आभास होता हो ।

देवं पंच गुनं सुद्धं, पदवी पंचामि संजुदो सुद्धो ।
देवं जिन पण्णत्तं, साधु सुद्ध दिस्टि समयेन ॥३३२॥

जो पंच परमेष्ठी हैं, वे होते गुणों के धाम हैं ।
करते हैं आलोकित उन्हें, नित पंच पद अभिराम हैं ॥
पांचों ही जिन सम्यक्त्व के, होते अगाध निधान हैं ।
कहते इसीसे विज्ञ जन, उनको जिनेन्द्र महान हैं ॥

पांचों परमेष्ठी गुणों के अपूर्व निधान होते हैं और पांच पदवियों से संयुक्त रहते हैं। सम्यक्त्व की रस-धार इनमें कल कल करके बहती रहती है। विज्ञजनों ने इन पांचों को ही, इसीलिये जितेन्द्रिय भगवान की संज्ञा प्रदान की है।



अरहंत भावनं जेन, षोडस भावेन भावितं ।
ति अर्थं तीर्थंकरं जेन, प्रति पूरनं पंच दीप्त यं ॥३३३॥

अरहन्त पद की भावना से, जो सतत रहता सना ।
या जिस हृदय में नित्य जगतीं, भव्य षोड़श भावना ॥
वह उपजता, त्रयरत्न, पंचज्ञान लेकर साथ है ।
वह पुरुष करता, तीर्थंकर बन, त्रिलोक सनाथ है ॥

जो पुरुष अरहन्त पद का व षोड़श कारण भावनाओं का चिन्तवन करता है, वह नियम से तीन रत्न और पाँच ज्ञानों का धारी, तीनों जगत को तारने वाला तीर्थंकर होता है।

तस्यास्ति षोडसं भावं, ति अर्थं तीर्थंकरं कृतं ।
षोडस भावनं भावं, अरहंतं गुण सास्वतं ॥३३४॥

जो तीर्थंकर-बंध से, कृतकृत्य सब विधि हो चुका ।
सुख-राशि षोड़श भावना का, बीज वह नर बो चुका ॥
सचमुच ही षोड़श भावना की, साधना सुखकंद है ।
होता है इससे व्यक्त, आत्म-निधान का आनंद है ॥

षोड़श कारण भावना या सोलह भावनाओं के चिन्तवन का सर्वोत्तम फल, तीर्थंकर पद को प्राप्त कर लेना ही है, अत: सोलह भावनाओं का चिन्तवन उसी का सफल है, जिसको तीर्थंकर नाम कर्म का बंध हो गया। वास्तव में सोलह कारण भावनायें अपूर्व निधि को प्रदान करने वाली होती हैं, इससे आत्मा में सोते हुए अरहन्त पद में विद्यमान रहने वाली शाश्वत गुणों की राशि जाग जाती है।



सिद्धं च सुद्ध संमिक्तं, न्यान दरसन दरसितं ।
वीर्जं सुहं समंहेतुं, अवगाहन अगुरुलघुस्तथा ॥३३५॥

जो सिद्ध हैं, सम्यक्त्व के होते वे पारावार हैं ।
होते अनंतानंत, दर्शन, ज्ञान के वे द्वार हैं ॥
बल, सूक्ष्म, अव्याबाधिता, व अगुरुलघु, अवगाहना ।
इन अष्टगुण से दीप्त रहते, नित्य सिद्ध महामना ॥

जो सिद्ध हो चुके, वे पुरुष अनंतानंत गुणों के समुद्र होते हैं। अष्ट कर्मों के नाश हो जाने से उनमें आत्मा की अष्ट महान निधियें प्रकट हो जाती हैं और इस तरह वे सम्यक्त्व, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनात्व और अगुरुलघुत्व इन अष्ट अलौकिक गुणों के स्वामी होते हैं।

संमिक्त आदि गुनं साद्धं, मिथ्या माया विमुक्तयं ।
सिद्धं गुनस्य संजुत्तं, सार्धं भव्य लोकयं ॥३३६॥

सम्यक्त्व आदिक गुणों से जो, पूर्ण हैं, भरपूर हैं ।
मिथ्यात्व, मल रहते हैं जिनसे, दूर और सुदूर हैं ॥
ऐसे जो सत्, चित्, सिद्ध, अगणित गुणों के आगार हैं ।
संसार में आराधना के, बस वही आधार हैं ॥

सम्यक्त्व आदि अष्ट महान गुणों के जो आधार हैं; मिथ्यात्व जिनको छूने का भी सामर्थ्य नहीं कर सकता और जो आवागमन के लौह-बंधनों को तोड़कर कृतकृत्य हो चुके हैं, ऐसे अनंतानंत गुणों के स्वामी सिद्ध भगवान ही आराधना करने के पूर्ण योग्य हैं ।



आचार्यं आचरनं धर्मं, ति अर्थं सुद्ध दरसनं ।
उपाय देव उवदेसन कृत्वा, दस लष्यण धर्मं धुवं ॥३३७॥

जो मोक्ष के आधार जग में, तीन रत्न महान हैं ।
आचार्यगण करते कराते, नित्य उनका गान हैं ॥
जगतीतली में श्रेष्ठ जो, दशलाक्षणिक सद्धर्म हैं ।
उनको पढ़ाकर, उपाध्याय, उनका बताते मर्म हैं ॥

आचार्य परमेष्ठी रत्नत्रय धर्म का स्वयं आचरण करते हैं व दूसरों को भी इसी धर्म के अनुसार चलने का उपदेश देते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी, जो अविनाशी ध्रुव दशलाक्षणिक धर्म हैं, उनका मर्म बताते हैं और अपने व्याख्यानों से उन्हें, अपने संघ, समुदाय व जनता को हृदयंगम कराते हैं ।

मार्ध चेतना भावं, आत्म धर्म च एकयं ।
आचार्यं उपाध्यायेन, धर्म सुद्धं च धारिना ॥३३८॥

आचार्य और उपाध्या (य) होते, जो साधु महान हैं ।
वे शुद्ध निश्चय धर्म में ही, लीन रखते ध्यान हैं ॥
चैतन्य से मंडित जो, आतम देव पूर्ण ललाम है ।
करता उसीकी भावना बस, यह युगल अभिराम है ॥

आचार्य और उपाध्याय दोनों परमेष्ठी शुद्ध आत्मधर्म के धारण करने वाले होते हैं। इन दोनों विभूतियों के द्वारा, चैतन्य लक्षण से मंडित शुद्धात्मा की ही अर्चना की जाती है, अन्य की नहीं।



ते धर्म सुद्ध दिष्टी च, पूजितं च सदा बुधै ।
उक्तं च जिन देवेन, श्रूयते भव्य लोकयं ॥३३९॥

जो धर्म सबसे श्रेष्ठ है, वह धर्म आतम धर्म है ।
करना उसी की अर्चना, प्रज्ञाधरों का कर्म है ॥
उपदेश इस सद्धर्म का, अरहन्त प्रभुवर ने दिया ।
जो भव्य हैं, उनने यही, पीयूष का सागर पिया ॥

जो धर्म आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी पालते हैं वही धर्म सबसे श्रेष्ठ है; वही धर्म सम्यग्दृष्टियों के अनुसरण करने योग्य है और उसी धर्म की विद्वानों के द्वारा आराधना होनी चाहिये। इस धर्म का उपदेश अष्टकर्मों और पाँचों इन्द्रियों के विजेता श्री जिनेन्द्र प्रभु ने दिया है और जो मोक्षगामी भव्य पुरुष हैं, उनने इसी धर्म का पान कर अपना जीवन सफल बनाया है।

साधुओ साधु लोकस्य, दर्सन ज्ञान संजुतं ।
चारित्रं आचरनं जेन, उदयं अवहिं संजुत्तं ॥३४०॥

होते जो अट्ठाईस गुण युत, साधु पूज्य महान हैं ।
वे ज्ञानयुत नित शुद्ध दर्शन का, कि करते ज्ञान हैं ॥
होता है उनका आचरण से, पूर्ण सब व्यवहार है ।
हर सांस में उनके कि बजता, मधुर समकित तार है ॥

साधु परमेष्ठी ज्ञान सहित शुद्ध सम्यग्दर्शन की साधना करते हैं । उनका आचरण भी पूर्ण सम्यक्त्व से युक्त रहता है और जितने भी गुण उनकी आत्म-निधि में से प्रकट होते हैं, वे समस्त सम्यक्त्व की वेष-भूषा से सुसज्जित रहते हैं ।



गुरुउपासना

ऊर्ध अर्ध मध्यं च, दिस्टितं संमिक्त दरसनं ।
न्यान मयं च सर्वन्यं, आचरनं संजुतं धुवं ॥३४१॥

सम्यक्त्व-मणि से जो निरखते, सतत तीनों लोक हैं ।
करती हैं समकित-रश्मियें, जिन उरों में आलोक हैं ॥
सम्पूर्ण, ध्रुव, शुचि, ज्ञानमय, आचरण के जो प्राण हैं ।
सम्यक्त्व-पारावार वे ही, साधु पूज्य महान हैं ॥

जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक तीनों लोकों को सम्यक्दृष्टि के द्वारा देखते हैं; ज्ञान से जो परिपूर्ण हैं तथा जिनके आचरण अविनाशी, ध्रुव सम्यग्दर्शन से ओतप्रोत हैं, वही सत्पुरुष, सच्चे साधु कहलाने के योग्य होते हैं ।

माधु गुनस्य संपूरनं, रयनत्रय लंकृतं ।
भव्य लोकस्य जीवस्य, रयनत्रयं पूजितं ॥३४२॥

रहते गुणोदधि साधु, अट्ठाईस गुण की खान हैं ।
उनके हृदय में जगमगाते, तीन रत्न महान हैं ॥
सम्यक्त्व के प्रतिविम्ब, ऐसे साधु जो गुणधाम हैं ।
उनकी ही करते अर्चना बस, विज्ञ आठों याम हैं ॥

साधु परमेष्ठी पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रियनिग्रह, छह आवश्यक, केशलोंच, दिगम्बरत्व स्नान त्याग, दंतधावन त्याग, खड़े भोजन, एक बार भोजन, भूमि शयन इन २८ गुणों से युक्त होते हैं। रत्नत्रय से उनकी आत्मा पूर्ण प्रकाशित रहती है । जो भव्य जीव होते हैं, वे रत्नत्रय के साक्षात स्वरूप, इन साधु परमेष्ठियों की ही अर्चना करते हैं ।



देवं गुरं पूज मार्धं च, अंग संमिक्त सुद्धये ।
मार्धं न्यान मयं सुद्ध, संमिक्त दरसन उत्तमं ॥३४३॥

सत् देव, गुरु और शास्त्र की आराधना सुख सेतु है ।
सम्यक्त्व-साधन की कि यह पूजन, सरलतम हेतु है ॥
पर विज्ञजन ! समझो, सुनो, सम्यक्त्व जिसका नाम है ।
वह सच्चिदानंद आत्मा का, चिंतवन अभिराम है ॥

देव, गुरु व शास्त्र की पूजा करना व उनमें अटल श्रद्धा रखना, यह सम्यक्त्व का एक प्रधान अंग है, किन्तु अपने ज्ञानसिन्धु आत्मा में प्रतीति रखना और उसका नित्यप्रति चिन्तवन करना, यह सबसे उत्कृष्ट कोटि का सम्यग्दर्शन है ।

न्यानं च न्यान सुद्धं च, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
न्यान मयं च संसुद्ध, न्यानं सर्वन्य लोकितं ॥३४४॥

श्रुत और आत्म-ज्ञान ये दोनों ही वे विज्ञान हैं ।
जो नित्य मानव को कराते, आत्मा का भान हैं ॥
जो प्राप्त कर लेता कि इन ज्ञानों से, केवल-ज्ञान है ।
वह निज मुकुर में देखता, त्रैलोक्य नित गतिमान है ॥

शास्त्रों को पढ़कर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान व अपने अंतर्जगत में उत्पन्न हुआ आत्मज्ञान, ये दोनों ज्ञान शुद्ध तत्व का प्रकाश करने की महान क्षमता रखते हैं। इन ज्ञानों की सहायता से, जो पंच ज्ञानों में प्रमुख केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह तीनों लोकों को तीनों काल हाथ में रखे हुये आमले के समान देखने का अपूर्व सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ।



न्यानं आराध्यते जेन, पूजा तत्र च विंदते ।
सुद्धस्य पूज्यते लोके, न्यान मयं सार्धं धुवं ॥३४५॥

जिस पुरुष-पुंगव ने बनाया, ज्ञान को आराध्य है ।
सर्वोच्च आतम तत्व जिसका, बना सुन्दर साध्य है ॥
वह ज्ञानमय, ध्रुव, सत्पुरुष ही विज्ञ है, गुणधाम है ।
करता है उसको ही कि यह त्रैलोक्य, नित्य प्रणाम है ॥

जिसने ज्ञान को अपना आराध्य और शुद्धात्म तत्व को ही अपना हृदय मन्दिर का देवता बना लिया, वह पुरुष अविनाशी, ज्ञानमय और ध्रुव बन जाता है और संसार के समस्त लोक उसके आगे अपना शीश झुकाते हैं ।

स्वाध्याय

न्यानं गुनं च चत्वारि, श्रुतं पूजा सदा बुधै ।
धर्मध्यानं च संजुक्तं, श्रुतं पूजा विधीयते ॥३४६॥

रे ! ज्ञान गुण दायक, जगत में जो अनंत प्रयोग हैं ।
सर्वज्ञ भाषित सुश्रुति के, उनमें चतुर् अनुयोग हैं ॥
इन सुश्रुतों का पूजना, प्रति महज्जन का कर्म है ।
पर धर्म–ध्यान समेत, श्रुत-आराधना ही धर्म है ॥

ज्ञान और गुणों को प्रदान करनेवाली जो श्रुतियां हैं उनकी चार कोटियें हैं। ये कोटियें अनुयोग कहलाती हैं। इन शास्त्रों का विनय सम्मान व पूजन हर एक विवेकवान पुरुष को करना चाहिये, किन्तु विनयसम्मान या पूजन कैसा ? धर्म ध्यान सहित-सम्यक्त्व सहित-आत्मानुभूति सहित ! बिना सम्यक्त्व की भावना के श्रुतपूजन से क्या तात्पर्य ?



प्रथमानुयोग करनं च, चरनं द्रव्यानि विंदते।
न्यानं तिअर्थ संपूरनं, साधं पूजा सदा बुधै ॥३४७॥

प्रथमानुयोग प्रथम, द्वितिय करणानुयोग महान है ।
चरणानुयोग तृतीय, द्रव्य चतुर्थ भेद सुजान है ॥
इनमें भरा रहता जो, रत्नत्रयमयी विज्ञान है ।
करता उसी की अर्चना, जो विज्ञ है–गुणवान है ॥

प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग, इस तरह इन चार अनुयोगों के शास्त्रों में तीन रत्नों से परिपूर्ण जो अमोलक ज्ञान भरा होता है, विद्वान सदा उसी की पूजा व विनय करता है व उसी को अपना शीश झुकाता है।

प्रथमानुयोग पद विंदंते, विंजनं पद मब्द यं ।
तिअर्थ पद सुद्धस्य, न्यानं आत्मा तुव गुनं ॥३४८॥

प्रथमानुयौगिक शास्त्रों का, पठन धर्म महान है ।
उनके जो व्यंजन, शब्द, पद हैं, ज्ञेय उनका ज्ञान है ॥
इनका कथानक नित्य प्रति, उज्वल बनाता ज्ञान है ।
उस ज्ञान से पाता निरंतर, वृद्धि आत्म-निधान है ॥

प्रथमानुयोग शास्त्रों को पढ़कर, उनके व्यंजन पद व शब्दों के अर्थों का मनन करना चाहिये । इनके कथानक जिनमें कि महान पुरुषों के चरित्र-चित्रण मिलते हैं, ज्ञान को उज्वलता प्रदान करते हैं जिससे आत्मा की ज्योति निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहती है ।



विंजनं च पदार्थं च, सास्वतं नाम सार्ध यं ।
उवं कारस्य वेदंते, सार्धं न्यान मयं धुवं ॥३४९॥

व्यंजन, पदार्थ व नाम ये सब, ध्रुव, अमर सुखसार हैं ।
बुधजन वही रचते जो इनमें, ओम् का संसार है ॥
जो ज्ञानमय, शुचि आत्मा, अगणित गुणों की धाम है ।
करना उसी का चिन्तवन, यह ही सुजन का काम है ॥

व्यंजन, पदार्थ व नाम ये सब अविनाशशील ध्रुव पदार्थ हैं । अल्पज्ञ लोग इन्हें सहज ही पढ़ जाते हैं, पर विज्ञजन वही होते हैं जो, इन में ओम् की पुण्य छबि निरखकर, उसका ही दर्शन मनन और चिंतवन करते हैं । प्रत्येक वस्तु में आत्मा की झांकी देखना और उसके रूप का चिंतवन करना, यही प्रज्ञाधारी पुरुषों का कर्तव्य होता है ।

करनानुयोग संपूरनं, स्वात्मचिंता सदा बुधै ।
स्वसरूपं च आराध्यं, करनानुयोग सास्वतं ॥३५०॥

करणानुयौगिक शास्त्र पढ़ने का, यही अभिप्राय हो ।
हो यही चिंतन, आत्महित का, कौन श्रेष्ठ उपाय हो ॥
करणानुयौगिक ग्रंथ पढ़ने का, उसी क्षण श्रेय है ।
जिस क्षण सुजन यह जानलें, यह आत्मा ही ज्ञेय है ॥

करणानुयोग के शास्त्रों को पढ़कर मनुष्य को अपने आत्म चिंतवन के साधन ढूंढ निकालना चाहिये, मानो कारणानुयोग के सम्पूर्ण शास्त्र, पढ़ने वाले को बार बार यही सम्बोधन करते हैं। अपने स्वरूप का आराधन करना ही, करणानुयोग के सम्पूर्ण शास्त्रों का स्वाध्याय कर लेना है।



सुद्धात्मा चेतनं जेन, उवं ह्रियं श्रियं पदं ।
पंच दीप्ति मयं सुद्धं, सुद्धात्म सुद्धं गुनं ॥३५१॥

जो शुद्ध आतम का कराते, इस त्रिजग को ज्ञान हैं ।
जो ॐ ह्रीं व श्रीं के, गाते अलौकिक गान हैं ॥
जिनके प्रकाशित पंचदीप्ति स्वरूप से शुचि गात्र हैं ।
शुद्धात्म-गुण से पूर्ण वे, करणानुयौगिक शास्त्र हैं ॥

जो तीनों लोक को शुद्धात्मा का ज्ञान करायें; ओम् ह्रीं व श्रीं पदों पर विस्तृत प्रकाश डालें और पाँचों परमेष्ठियों का स्पष्ट रूप समझायें तथा परिणामों की उन बारीक से बारीक परिणतियों का ज्ञान करायें कि जिनके आधार से गतियों के गमनागमन का स्पष्ट मान होने लग जाता है, वही करणानुयोग के शास्त्र कहलाते हैं ।

सल्यं मिथ्या मयं प्रोक्तं, कुन्यानं त्रि विमुक्तयं ।
ऊर्ध च ऊर्ध सद्भावं, उवंकारं च विंदते ॥३५२॥

करणानुयौगिक शास्त्र से जो, प्राप्त करते ज्ञान हैं ।
उनको उचित वे त्याग दें, जो तीन शल्य महान हैं ॥
जो तीन मिथ्या ज्ञान हैं, उनका भी वे वर्जन करें ।
शुचि ॐ के ही गान से वे, हृदय के कण कण भरें ॥

करणानुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय कर लेने के पश्चात् मिथ्यारूप तीन शल्यों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये; तीन प्रकार के कुज्ञानों से अपना हृदय अछूता बना लेना चाहिये और जो मुक्ति स्वभाव का धारी ओम् है, सदा उसी के चिंतवन में लीन रहना चाहिये ।



द्रव्य दिस्टी च संपूरनं, सुद्ध संमिक्त दर्सनं ।
न्यान मयं सार्थ सुद्धं, करनानुयोग स्वात्म चिंतनं ॥३५३॥

द्रव्यार्थिक नय ही सुजन, वह एक अनुपम दृष्टि है ।
सम्यक्त्व की करती सृजन जो, अंतरों में सृष्टि है ॥
करणानुयौगिक ग्रंथ, इस नय से ही पढ़ना चाहिये ।
हो स्वात्ममय, शिवमार्ग में, प्रति निमिष बढ़ना चाहिये ॥

निश्चयनय या शुद्ध द्रव्यार्थिक नय ही एक ऐसी दृष्टि है, जिससे सम्यक्त्व की यथार्थ अनुभूति हो सकती है अथवा सम्यक्त्व से रंगे हुए पदार्थों के अंतर में सम्यक् विधि प्रवेश हो सकता है। करणानुयोग के पाठियों को इस कोटि के सारे ग्रन्थ इसी नय से पढना चाहिये, जिससे परिणामों व वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप समझा जा सके ।

चरनानुयोग चारित्रं, चिद्रूपं रूप दिस्टते ।
ऊर्धं अधं च मध्यं च, संपूरनं न्यान मयं ध्रुवं ॥३५४॥

चरणानुयौगिक ग्रन्थ में, रहते विमल चारित्र हैं ।
दिखते हैं सत् चिद्रूप के, सर्वत्र उनमें चित्र हैं ॥
होता है जब उनके पठन में, आत्मा तल्लीन है ।
दिखता है तब त्रैलोक्य ही, शुद्धात्मा में लीन है ॥

चरणानुयौगिक शास्त्रों में मुनियों या सद्गृहस्थों के चारित्रों का समावेश रहता है। उनमें उन विमल आत्माओं के चरित्र चित्रण किये गये होते हैं, जोकि अपने पद से बढ़कर परमात्मा बन गई थीं या जिन्होंने यह दिखा दिया था कि आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता विद्यमान है। जिस समय इन ग्रन्थों के स्वाध्याय में मन तल्लीन होता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक, तीनों लोक में शुद्धात्मा का ही गुंजार हो रहा है।



षट् कमलं त्रि लोकं च, सार्द्धं धर्म संजुतं ।
चिद्रूपं रूप दिस्टंते, चरनं पंच दीप्त यं ॥३५५॥

षटकमल कर ओंकारमय, धरता जो धर्मध्यान है ।
चैतन्य का होता उसे, साक्षात्कार महान है ॥
जो पंचदीप्ति-समूह करता, शुभ्र, पूर्ण प्रकाश है ।
उनके हृदय-आकाश में, चारित्र का ही वास है ॥

जो अपने छहों कमल को ओंकारमय करके, उसका ध्यान करता है, उसे आत्मा का साक्षात्कार होते देर नहीं लगती। संसार में पंच परमेष्ठी के नाम से जो ज्योतियें प्रकाश कर रही हैं, उनमें भी यही स्वरूपाचरण निश्चय चारित्र रमण कर रहा है, अर्थात् वे भी इसी चारित्र के बल पर इन संसार श्रेष्ठ पदों पर सुशोभित हुए हैं।

दिव्यानुयोग उत्पादंते, दिव्य दिस्टी च संजुतं ।
अनंतानंत दिस्टंते, स्वात्मानं वक्त रूप यं ॥३५६॥

द्रव्यानुयौगिक ग्रंथ का स्वाध्याय, सौख्यागार है ।
यदि शुद्धनय हो तो, इसी सुख का न पारावार है ॥
जिस भाँति दिखता आत्म का, शुद्धात्मा सत् रूप है ।
दिखता है निश्चय दृष्टि से, त्यों विश्व ही चिद्रूप है ॥

द्रव्यानुयौगिक ग्रंथों का स्वाध्याय मनन अत्यंत सुखद होता है। यदि इन ग्रन्थों के पढ़ने में निश्चयनय दृष्टि का उपयोग किया जाय, तब तो यह आनन्द और भी बढ़ जाता है। जिस प्रकार मनुष्य को अपनी आत्मा शुद्धात्मा के रूप में दृष्टिगोचर होती है, द्रव्यानुयौगिक ग्रन्थों को पढ़ने से मनुष्य को द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से उसी प्रकार संसारकी आत्मायें शुद्धात्मा या परमात्मा के रूप में दिखाई देती हैं।



दिव्यं द्रव्य दिस्टी च, सर्वन्यं सास्वतं पदं ।
नंतानंत चतुर्ष्टं च, केवलं पदमं ध्रुवं ॥३५७॥

यह द्रव्यदृष्टि अपूर्व है, अनुपम है, शोभाधाम है ।
दिखता है जिसकी दृष्टि में, सर्वज्ञ आतमराम है ॥
वह जानती, रे ! आतमा अगणित गुणों से युक्त है ।
वह केवली, वह पद्म, ध्रुव, वह चतुष्टय संयुक्त है ॥

यह निश्चयनय या द्रव्यदृष्टि एक अपूर्व शोभनीक वस्तु है, जो अपनी आत्मा के सर्वज्ञ, शाश्वत और ध्रुव पदार्थ के रूप में दर्शन करती है। व्यवहारनय या परमार्थिकनय आत्मा को, जहाँ कर्मों के गाढ़ अंधकार से लिप्त, संसारी और नाशवान मानती है, वहाँ ही यह नय उसी आत्मा को चार चतुष्टयों से युक्त, केवली ध्रुव और कमल के समान हमेशा प्रफुल्लित रहने वाली मानती है।

चत्वारि गुण जानंते, पूजा वेदंत जे बुधै ।
संसार भ्रमण मुक्तस्य, सुद्धं मुक्ति गामिनो ॥३५८॥

करता है विज्ञ सदा, चतुर अनुयोग का अभ्यास है ।
होता है इनकी अर्चना में, विपुल सौख्याभास है ॥
भव-सिन्धु में चिरकाल से, जो डूबते, अज्ञान हैं ।
श्रुतियें बचाकर उन्हें करतीं, मोक्ष-सौख्य प्रदान हैं ॥

जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं, वे इन चारों अनुयोगों के शास्त्रों का भली प्रकार अभ्यास करते हैं। ये शास्त्र संसार में भ्रमण करने वाले प्राणी को, संसार से छुड़ा देते हैं और अंत में उसे मोक्ष का सुख प्रदान करते हैं।



श्रियं संमिक दर्सनं च, संमिक दर्सन मुद्यमं ।
संमिक्तं संपूरनं सुद्धं च, ति अर्थं पंच दीप्तयं ॥३५९॥

सर्वज्ञभाषित सुश्रुत क्या हैं ? स्वयं ही सम्यक्त्व हैं ।
सम्यक्त्व, वह जिसमें निहित रे ! विश्व के सब तत्व हैं ॥
जो तीन रत्नों का गगनचुम्बी, अलौकिक केतु है ।
सम्यक्त्व, वह परमेष्ठियों का, जो प्रकाशन हेतु है ॥

सर्वज्ञ भाषित ये शास्त्र उस सम्यग्दर्शन के साक्षात प्रतीक हैं, जो सब अर्थों में सम्पूर्ण हैं और शुद्ध हैं, जिसके प्राधान्य में ज्ञान और आचरण दोनों का अस्तित्व निहित है तथा संसार को प्रकाशित करने वाले पंच परमेष्ठियों के स्वरूप को प्रकाश में लाने का जो एकमात्र साधन है।

श्रियं संमिक दर्सनं सुद्धं, श्रियं कारेन उत्पादते ।
सर्वन्य न्यान मयं सुद्धं, श्रियं संमिक दर्सनं ॥३६०॥

सम्यक्त्व रूपी जिन बयन की, जो सुधा-सी धार है ।
श्रींकार-गिरि से भव्य वह, लेती महा अवतार है ॥
शुचि, शुद्ध दृष्टि प्रतीक यह, होता जो निर्मल ज्ञान है ।
वह विश्व के विज्ञान का, होता अमूल्य निधान है ॥

सम्यक्त्व रूपी जिनवाणी श्रींकार अर्थात साक्षात् मुक्ति श्री से उत्पन्न होती है। यह जिनवाणी संसार में जितने भी ज्ञान होते हैं, उन सबकी विशद भण्डार होती है। इसके ही सामर्थ्य से आत्मा में परमात्मापने का भान व ज्ञान-वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है।



न्यानं च संमिक्तं सुद्धं, संपूरनं त्रिलोक मुद्यमं ।
सर्वन्य पंच मयं सुद्धं, पद वन्द्यं केवलं धुवं ॥३६१॥

सम्यक्त्व से परिपूर्ण सम्यक्, ज्ञान ही शुचिज्ञान है ।
वह ही समीचीनत्व से संयुक्त, शुद्ध महान है ॥
वह सर्व ज्ञान प्रधान, ज्ञान-समूह उसमें लीन है ।
वह ज्ञान ही है वंद्य, जो ध्रुव है, विनाश विहीन है ॥

जिनवाणी का ज्ञान सम्यक्त्व से परिपूर्ण होता है और सम्यक्त्व से परिपूर्ण ज्ञान ही संसार में सम्पूर्ण और शुद्ध ज्ञान कहलाने में समर्थ हो सकता है। यह ज्ञान सर्व ज्ञानों में श्रेष्ठ और विशुद्ध होता है और वही ज्ञान श्रेष्ठतम और वंदनीय कहा जा सकता है, जो कैवल्य प्राप्त कराने की क्षमता रखे; ध्रुव हो, विनाशहीन हो। जिनवाणी में ये सारी महत्तायें विद्यमान हैं।

श्रियं संमिक न्यानं च, श्रियं सर्वन्य सास्वतं ।
लोकालोकमयं सुद्धं, श्री संमिक न्यान उच्यते ॥३६२॥

श्रुतज्ञान क्या है ? कुछ नहीं, वह विमल सम्यग्ज्ञान है ।
श्रुतज्ञान क्या ? सर्वज्ञ का, शासन पुनीत महान है ॥
शुचि विमल सम्यग्ज्ञान क्या ? यह ज्ञान का वह पुंज है ।
नित लोक और अलोक का, जिसमें झलकता कुंज है ॥

सर्वज्ञ भाषित ये शास्त्र सम्यग्ज्ञान के साक्षात् स्वरूप हैं, जिनेन्द्र भगवान के शासन के ज्वलंत प्रतीक हैं और उस ज्ञानपुंज के विशाल निधान हैं, जो लोकालोक से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों को भली प्रकार जानते हैं।



श्रियं संमिक चारित्रं, संमिक्त उत्पन्न सास्वतं ।
अप्पा परमप्पयं सुद्धं, श्री संमिक चरनं भवेत् ॥३६३॥

श्री जिन वयन से पूर्ण, ये श्रुत क्या ? परम चारित्र हैं ।
करते सृजन जो यथाख्याताचरण, नित्य पवित्र हैं ॥
जिस निमिष बन जाता है चेतन, परम, ध्रुव चिद्रूप है ।
उस समय ही चारित्र का, परिपूर्ण होता रूप है ॥

सर्वज्ञ भाषित ये शास्त्र निर्मल सम्यक्चारित्र के उपमान हैं, जो अविनाशी, वीतराग यथाख्यात् चारित्र को जन्म देते हैं। चारित्र की सम्पूर्णता तभी कही जाती है, जब आत्मा अपने से चिपटे हुए कर्मों के बन्धनों को तोड़कर पूर्ण स्वाधीन हो जावे। जिनवाणी ऐसे ही दिव्य और मंगलमय मार्ग का प्रदर्शन करती है।

श्रियं सर्वन्य सार्थं च, स्वरूपं विक्त रूपयं ।
श्रियं संमिक्त ध्रुवं सुद्धं, श्री संमिक चरनं बुधै ॥३६४॥

श्रुतज्ञान क्या ? सर्वज्ञ का साक्षात् पुण्य स्वरूप है ।
श्रुतज्ञान क्या ? आनंदघन, सत् ममल, ध्रुव चिद्रूप है ॥
जिस पंथ पर चल मनुज, बन जाता स्वयं तारणतरण ।
श्रुतज्ञान, वह सम्यक्त्व से, परिपूर्ण है शुद्धाचरण ॥

जिनवाणी सर्वज्ञ प्रभु का साक्षात् स्वरूप है; सत्, चित, आनन्द घन परमात्मा है और मुक्ति की ओर ले जाने वाला वह मार्ग है जिस पर चलकर मनुष्य स्वयं विश्व को तारने वाला अविनाशी पुरुष बन जाता है।



पचहत्तर गुन वेदंते, सार्धं च सुद्धं ध्रुवं ।
पूजतं अमृतं जेन, भव्य जन सुद्ध दिस्टितं ॥३६५॥

ध्रुव, सत्य, मंगलमय, जो पचहत्तर गुणों का हार है ।
चरणानुयोगिक ग्रन्थ का, सर्वस्व जो सुखसार है ॥
उस हार को देते विनय से, जो हृदय पर ठौर हैं ।
वे भव्यजन ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, शिरमौर हैं ॥

चरणानुयौगिक ग्रंथों का सार ७५ गुणों में भरा हुआ है। जो उन गुणों की वंदना, साधना व पूजा करते हैं, वे नरश्रेष्ठ ही शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले कहाते हैं।

एतत् गुन सार्द्धं च, स्वात्म चिंता सदा बुधै ।
देवं तस्य पूजस्य, मुक्ति गमनं न संसयं ॥३६६॥

जो नर पचहत्तर गुणों का, करते विनय सम्मान हैं ।
जो स्वात्म के ही चिन्तवन में, लीन रखते ध्यान हैं ॥
उन पुरुष को सुरवृन्द भी, आकर झुकाते माथ हैं ।
वे भव्य बनते मुक्ति–रमणी के, निसंशय नाथ हैं ॥

जो पुरुष पचहत्तर गुणों की साधना, वंदना व पूजा करते हैं तथा अपनी आत्मा के चिन्तवन में तल्लीन रहते हैं, उन्हें पुरुष तो क्या देवता भी शीश झुकाते हैं और वे निःशंसय मुक्ति के राज्य को प्राप्त करते हैं।



गुरुस्य ग्रंथ मुक्तस्य, राग दोषं न चिंतए ।
रत्नत्रयं मयं सुद्धं, मिथ्या माया विमुक्तयं ॥३६७॥

गुरु वही, जो न परिग्रहों की, बेड़ियों से युक्त हों ।
जो रागद्वेष–कुभावनाओं से, परे हों मुक्त हों ॥
जो तीन रत्नों के विशद, अनमोल दिव्य निधान हों ।
मिथ्यात्व माया को न जिनके, हृदस्तल में स्थान हों ॥

गुरु वही होते हैं, जो सर्व परिग्रहों से मुक्त हों; रागद्वेष का जो चिन्तवन भी न करते हों; रत्नत्रय के पवित्र जल से जिनके हृदय प्रदेश पूर्ण पवित्र हों तथा मिथ्या और मायाचार से जो सर्वथा अछूते हों-- सर्वथा विलग हों।

गुरं त्रिलोक वेदंते, ध्यान धर्म संजुतं ।
ते गुरं सार्द्धं नित्यं, रयन त्रय लंकृतं ॥३६८॥

गुरु वही धर्मध्यान जिनका, एकमात्र निधान हो ।
त्रिभुवनतली की वस्तुओं का, जिन्हें सम्यग्ज्ञान हो ॥
दर्शन व ज्ञानाचार जिनके, हृदय के नव साज हों ।
संसार में आराध्य बस, ऐसे ही श्री गुरुराज हों ॥

गुरु वही होते हैं, जिन्हें त्रिलोक के पदार्थों का सम्यग्ज्ञान हो; धर्मध्यान में जो सदा डूबे हुए रहते हों और रत्नत्रय से जिनके हृदय प्रदेश भलीभाँति आलोकित हों। जो इतने गुणों से पूर्ण हों बस उन्हीं विभूतियों का आराधन ज्ञानवान पुरुषों को करना चाहिये।



स्वाध्याय

स्वाध्याय सुद्ध धुवं चिंते, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
सुद्ध संपूरनं दिस्टं, न्यान मयं मार्ध धुवं ॥३६९॥

जो शुद्ध तत्व स्वरूप की, करते सुधा-सी वृष्टि हैं ।
जिनके कि पद पदमें वसीं, शुचिज्ञान की सत सृष्टि हैं ॥
इस भाँति के जो शास्त्र हों, श्रुत हों महान पुराण हों ।
उनके ही बस स्वाध्याय में, संलग्न सबके ध्यान हों ॥

जो शुद्ध तत्व के स्वरूप का प्रकाशन करते हों; सम्यक्त्व की जो सृष्टि हों तथा जिनके प्रत्येक वाक्य और पदों में ज्ञान की पवित्र रसधार बहती हो, ऐसे शास्त्र या धर्म पुस्तकों का शुद्ध हृदय से पठन करना ही वास्तविक स्वाध्याय होता है और इस प्रकार के स्वाध्याय करने में ही मनुष्य को दत्तचित्त रहना चाहिये।

स्वाध्याय सुद्ध चिंतस्य, मन वचन काय रुंधनं ।
त्रिलोकं तिअर्थं सुद्धं, असथिरं सास्वतं धुवं ॥३७०॥

स्वाध्याय से मन विकृतियों का, शीघ्र होता नाश है ।
मन, वचन, काय त्रियोग बनता दास, रहता पास है ॥
इस आत्मा में निहित जो, त्रयरत्न-राशि महान है ।
स्वाध्याय उस निधि से, करा देता अमर पहिचान है ॥

स्वाध्याय करने से मनुष्य का चित्त पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाता है; मन वचन काय तीनों योगों पर उसका अधिकार हो जाता है और आत्मा में जो रत्नत्रय का निधान छिपा हुआ है, उससे उसकी सदा के लिये ध्रुव और अमर पहिचान हो जाती है।



संयम

संजमं संजमं कृत्वा, संजमं द्विविधं भवेत् ।
इन्द्रियानं मनोनाथा, रष्यनं त्रय थावरं ॥३७१॥

संयम क्या ? मननिग्रह है, संयम दो प्रकार सुजान है ।
इन्द्रिय प्रथम है, प्राणि संयम, द्वितीय भेद महान है ॥
मन सहित पंचेन्द्रिय निरोधन, प्रथम संयम सार है ।
त्रस स्थावरों का त्राण, यह संयम द्वितिय सुख द्वार है ॥

अपने मनको वश में रखना इसी का नाम संयम है। संयम दो प्रकार का होता है (१) इन्द्रिय संयम (२) प्राणी संयम। पंचेन्द्रिय सहित मनका निरोध करना इसे इन्द्रिय संयम और त्रस और स्थावर प्राणियों की रक्षा करना इसे प्राणी संयम कहते हैं।

संजमं संजमं सुद्धं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
ति अर्थ न्यान जलं सुद्धं, अस्नानं संयमं धुवं ॥३७२॥

निज आत्म में ही रमण करना, सुखद संयम सार है ।
बस यही संयम, दिव्य रत्नत्रय प्रकाशनहार है ॥
निज आत्मा का ज्ञान-जल ही, रम्य तीर्थ सुजान है ।
करना इसी में स्नान, संयम यही शुद्ध महान है ॥

अपनी आत्मा में रमण करना, इसी का नाम वास्तव में शुद्ध संयम है और यही संयम वास्तव में शुद्ध तत्व को प्रकाश में लाने वाला होता है। अपनी आत्मा रूपी तीर्थ में, जो अथाह ज्ञान की गंगा भरी हुई है, उसी गंगाजल में स्नान करना, वास्तविक संयम है।



तप

तपस्च अप्प सद्भावं, सुद्ध तत्वस्य चिंतनं ।
सुद्ध न्यान मयं सुद्ध, तथाहि निर्मलं तपं ॥३७३॥

शुद्धात्मा में ही ठहरना, बस तप इसी का नाम है ।
शुद्धात्मा का चिंतवन ही, पूर्ण तप अभिराम है ॥
चैतन्य से मंडित जो अपना, आत्मा गुणवान है ।
लवलीन हो जाना उसी में, तप यही गुणवान है ॥

आत्मा के यथार्थ स्वभाव में ठहरना; निशिवासर आत्मा का ही चिंतवन करना या ज्ञानरूप आत्मा में निमग्न हो जाना, इसी का नाम वास्तव में तप है।

दान

दात्रं पात्र चिंतस्य, सुद्ध तत्व रतो सदा ।
सुद्ध धर्म रतो भावं, पात्र चिंता दान मंजुतं ॥३७४॥

यह आत्मा परमात्मा का, श्रेष्ठ रम्य निधान है ।
करना इसी का चिंतवन, रे ! पात्रदान महान है ॥
जो शुद्ध आत्मिक धर्म में, लवलीन हैं संयुक्त हैं ।
वे सत्पुरुष सत्पात्रदान, सुभावना से युक्त हैं ॥

जो शुद्धात्म तत्व में लीन हैं, ऐसे पुरुषों को दान का उत्तम पात्र मानना और उसका पात्रदान के लिये चिंतवन करना यही दान कहलाता है किन्तु अपनी आत्मा को शुद्धभावों का दान देना अपनी आत्मा में आप ही रमण करना, यही वास्तव में दान और यही वास्तव में आत्म अर्चना में निमग्न उत्तम पात्रों का अहर्निश चिंतवन करना है ।



ये षट् कर्म सुद्धं च, जे साधंति सदा बुधै ।
मुक्ति मार्ग धुवं सुद्धं, धर्म ध्यान रतो सदा ॥३७५॥

सम्यक्त्व युत षटकर्म की, करते हैं जो नर साधना ।
वे सुजन करते हैं निरन्तर, श्रेष्ठ सत् आराधना ॥
बढ़ते हैं उनके मुक्ति पथ पर ही, चरण अभिराम हैं ।
रहते हैं धर्मध्यान में, वे लीन आठों याम हैं ॥

जो पुरुष शुद्ध कोटि के षटकर्मों की नित्यप्रति साधना करते हैं, वे नित्यप्रति मोक्षमार्ग की ओर ही अग्रसर होते रहते हैं; आर्त और रौद्र परिणाम उनसे छूट जाते हैं और धर्मध्यान की साधना में ही वे निमग्न बने रहते हैं ।

ये षट् कर्म आराध्यं, अविरतं श्रावगं धुवं ।
संसार सरनि मुक्तस्य, मोषगामी न संसयं ॥३७६॥

जो व्रतरहित श्रावक हैं, जिनको व्रतक्रियादि असाध्य हैं ।
उनके लिये भी भव्यजन, षटकर्म नित आराध्य हैं ॥
षटकर्म करते हुए वे, संसार से तिर जायेंगे ।
यह बात संशयहीन है, वे मुक्ति-पथ पा जायेंगे ॥

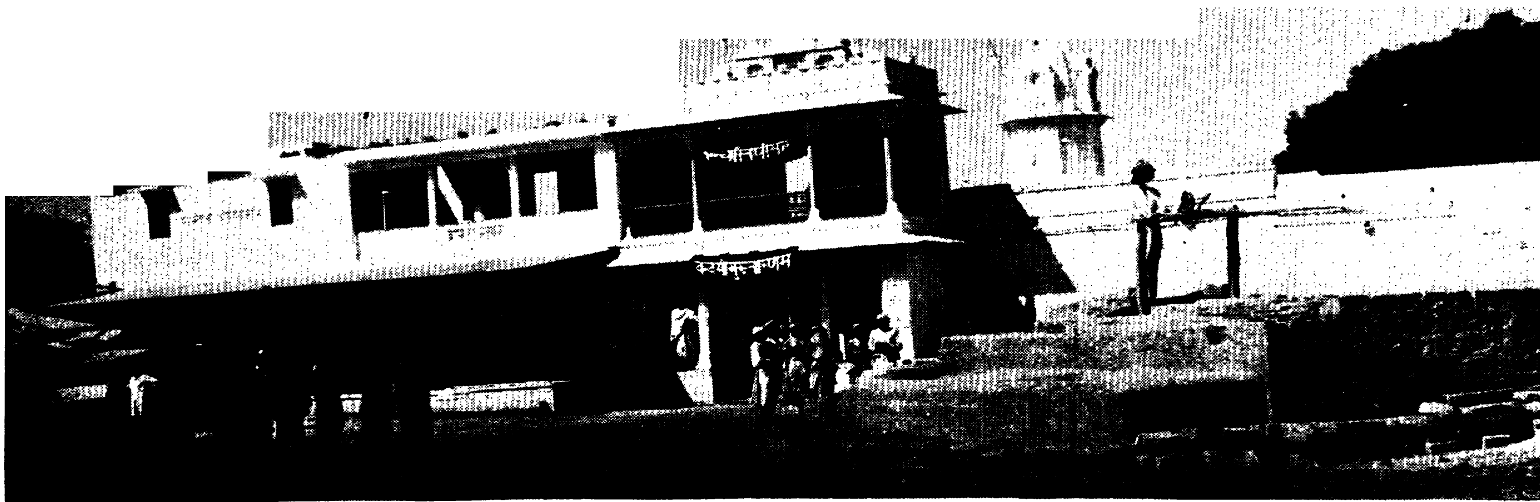
जो व्रतहीन श्रावक हैं, उनके लिये भी ये षटकर्म साधने ही के योग्य हैं। यदि वे इन षट आवश्यक कर्मों की नित्यप्रति सम्यक् साधना करें, तो उनका भी संसार समय पाकर सूख जाये और वे भी बिना किसी संशय के आवागमन से छूटकर मुक्ति का अनन्त साम्राज्य पा जायें।



एतत् भावनं कृत्वा, श्रावग संमिक दिस्टितं ।
अविरतं सुद्ध दिस्टी च, साधं ज्ञान मयं धुवं ॥३७७॥

षटकर्म किस विधि हों समुन्नत, यही करते चिंतवन ।
अव्रती सम्यग्दृष्टि करता है, व्रती-सा आचरण ॥
वह अव्रती, पर वस्तुतः वह पूर्ण सम्यग्दृष्टि है ।
सम्यक्त्व की उसके हृदय में, सतत होती वृष्टि है ॥

अव्रत सम्यग्दृष्टि इन षटकर्मों को समुन्नत बनाते रहने की भावना करते हुए, नित्यप्रति सम्यग्दृष्टि के सदृश ही आचरण करता रहता है। यद्यपि उसका 'अव्रती' अवश्यमेव नाम होता है, किन्तु अव्रती होते हुए भी वह पूर्ण सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सम्यक्त्व का अथाह सिन्धु उसके अंतस्तल में आठोंयाम लहरें लिया करता है।



तीर्थक्षेत्र श्री सेमरखेड़ी का एक बाह्य दृश्य

परम श्रद्धालु और कठोर साधनाओं में रत

व्रती सम्यग्दृष्टि के विचार और उसके कर्तव्य

(चतुर्थ खण्ड)

परम श्रद्धालु
और
कठोर साधनाओं में रत

व्रती, सम्यग्दृष्टि के विचार और उसके कर्तव्य

[३७८ से ४४४ तक]



"सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं,
यद्वज्रेपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्ग निर्भयतया शंकां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥"

सम्यग्दृष्टि जीव बड़े ही साहसी होते हैं । ऐसा वज्रपात हो कि जिसके होते हुए, तीनों लोक के प्राणी भयभीत हो, मार्ग छोड़ भाग जावें, तो भी वे महान आत्मा के धारी, स्वभाव से निर्भय रहते हुए, सर्व शंकाओं को छोड़कर, अपने आपको अविनाशी, ज्ञानशरीरी जानते हुए, आत्मिक अनुभव से व आत्म-ज्ञान से कभी पतित नहीं होते हैं ।

—आचार्य अमृतचंद्र
(समयसार कलश)

परम श्रद्धालु और कठोर साधनाओं में रत

व्रती सम्यग्दृष्टि के विचार और उसके कर्तव्य



ग्यारह प्रतिमाओं का उत्तरोत्तर पालन



श्रावग धर्म उत्पादंते, आचरनं उत्कृष्टं सदा ।
प्रतिमा एकादसं प्रोक्तं, पंच अनुव्रतं सुद्धये ॥३७८॥

श्री जिन भाषित धर्म-रत्न के, घर घर ध्वज फहरायें ।
सब संसारी जीव आचरण, अपना श्रेष्ठ बनायें ॥
शुद्ध, पंच अणुव्रत हो जायें, तपकर कुन्दन नाईं ।
श्री जिन शासन में इससे, ग्यारह प्रतिमा दरशाईं ॥

श्री सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा कथित मार्ग का अनुसरण करके, गृहस्थगण अपना आचरण पवित्र से पवित्रतम बनायें; धर्म की वृद्धि हो और पंच अणुव्रत तपकर स्वर्ण की नाईं शुद्ध हो जायें, जिनशासन में इसी हेतु ग्यारह प्रतिमाओं का निर्देशन किया गया है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह स्थान भी कहलाती हैं।

ग्यारह प्रतिमाएं

दंसन वय सामाइ, पोसह सचित्त चिंतनं ।
अनुराग बंभवर्यं च, आरंभं परिग्रहस्तथा ॥३७९
अनुमति उद्दिष्ट देसं च, प्रतिमा एकदसानि च ।
व्रतानि पंच उत्पादंते, श्रूयते जिनागमं ॥३८०॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित विरत, अनुराग ।
ब्रह्मचर्य, आरंभ, परिग्रह, अनुमति, उद्दिष्ट त्याग ॥
ये एकादश प्रतिमाएं हैं, भव्यो सुख की सागर ।
पंच अणुव्रत और जिनागम, के सागर की गागर ॥

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्त त्याग, (६) अनुराग भक्ति, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरंभ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग, (११) उद्दिष्ट भोजन त्याग, ये ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं ।

यहाँ तक एकदेशव्रत की मर्यादा होती है । इन ग्यारह प्रतिमाओं के सीमाबद्ध प्रदेश में पंचाणुव्रतों की शक्ति को बढ़ाया जाता है और जिन आगमों का यथेष्ट आभास किया जाता है ।



अहिंसा नृतं येन, असूतेयं बंभ परिग्रहं ।
सुद्ध तत्व हृदयं चिंते, सार्द्ध न्यान मयं धुवं ॥३८१॥

हिंसा, चोरी, झूठ, परिग्रह और कुशील दुखारी ।
इन पापों को तज जो बनता, पंच अणुव्रत धारी ॥
ज्ञानमयी, ध्रुव आत्मतत्व का, जो अनुभव करता है ।
वह नर प्रतिमाएं पालन को, आगे पद धरता है ॥

हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों से जो पूर्ण विमुक्त हो जाता है तथा शुद्ध आत्मतत्व के चिंतवन करने ही में जो लीन बना रहता है, वही पुरुष प्रतिमाओं को पालने के लिये अपने पद आगे बढ़ाता है ।

दर्शन प्रतिमा

प्रतिमा उत्पादंते जेन, दर्सनं सुद्ध दर्सनं ।
उवंकारं च विंदंते, मल पच्चीस विमुक्तयं ॥३८२॥

विज्ञो ! जो मानव बनता है, दर्शन प्रतिमा धारी ।
वह नितप्रति धारण करता है, प्रिय दर्शन सुखकारी ॥
पंचविंश मल का दल, उसके पास नहीं आता है ।
वह नितप्रति शुचि ओम् मंत्र ही, अनुभव में लाता है ॥

जो मनुष्य दर्शनप्रतिमा को धारण करता है, वह अपने हृदय में दर्शन (सम्यक्त्व) को सबसे पहले स्थान देता है। सम्यग्दर्शन को दूषित करनेवाले जो पच्चीस दोष होते हैं, उनको वह पूर्ण रीति से विलग कर देता है। महामंत्र ओम् का चिंतवन करना इस प्रतिमाधारी के कर्तव्य का एक प्रमुख अंग होता है।



मूढत्रयं उत्पादंते लोक मूढं न दिस्टते ।
जेतानि मूढ दिस्टी च, तेतानि दिस्टि न दीयते ॥३८३॥

सम्पीड़ित होता न मूढताओं से, दर्शन धारी ।
लोकमूढता देती उसको, भूल न दुःख दुखारी ॥
तीनों ही मूढत्व जहाँ पर, विकृति फैलाते हैं ।
दर्शन प्रतिमाधारी के, उस ओर न दृग जाते हैं ॥

दर्शन प्रतिमाधारी के सन्निकट तीन मूढ़तायें कभी भी नहीं दिखाई देती हैं, न उसके पास लोक-मूढ़ता रहने पाती है न अन्य कोई भी। ये मूढ़तायें जहाँ कहीं भी विकृतियों का सृजन करतीं हैं, वहां इन दर्शन प्रतिमाधारियों की दृष्टि भी नहीं जाती है। अर्थात् ये पुरुष मूढ़ता से सनी हुई बातों को देखना तक पसन्द नहीं करते ।

लोक मूढं देव मूढं च, अनृतं अचेत दिस्टते ।
तिक्तते सुद्ध दिस्टी च, सुद्ध संमिक्त रतो सदा ॥३८४॥

लोकमूढता के समान ही, मिथ्या मति की प्याली ।
दर्शन धारी को दिखती है, देवमूढता काली ॥
वह इनको अपने पैरों से, नितप्रति ठुकराता है ।
समकित सागर आतम को ही, वह नितप्रति ध्याता है ॥

दर्शन प्रतिमा धारी को लोकमूढ़ता के समान देवमूढ़ता भी बिलकुल अनिष्टकारी प्रतीत होती है । अनृत और अचेत वस्तु सम्बन्धी जितने भी राग होते हैं, उन सबको वह तृण के समान पैरों से ठुकरा देता है । उसका एकमात्र आराध्य होता है, उसका निर्मल सम्यग्दर्शन ! जिसकी आराधना व साधना में वह हमेशा ही तल्लीन रहा करता है ।



पाखंडी मूढ दिस्टी च, असास्वतं असत्य उच्यते ।
अधर्मं च प्रोक्तं येन, कुलिंगी पाखंड तिक्तयं ॥३८५॥

असत्, अध्रुव द्रव्यों को रे जो ध्रुव, नित, सत् कह गाते ।
जो अधर्म-प्रवचन कर जग को, झूठा मार्ग बताते ॥
ऐसे गुरुओं का पूजन ही, गुरुमूढत्व दुखारी ।
करते इनका भूल न बन्दन, दर्शन प्रतिमा धारी ॥

जो पाखण्डी, अशाश्वत वस्तुओं को शाश्वत, और अचेतन वस्तुओं को चेतन बताते हैं; जनता को झूठे धर्म का उपदेश देते हैं, ऐसे गुरुओं के फंदे में पड़कर दर्शन प्रतिमाधारी गुरुमूढ़ता का पातक अपने शीश पर नहीं लेते । ऐसे कुवेषधारी और पाखंडी साधुओं से वे बिलकुल ममत्व तोड़ देते हैं ।

अन्यानतन षट्कस्चैव, तिक्तते जे विचष्यना ।
कुदेवं कुदेव धारी च, कुलिंगी कुलिंग मानते ॥३८६॥

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र हैं भव्यो, जन्म मरण के प्याले ।
ये तीनों औ इन तीनों के, आराधक मतवाले ॥
ये कहलाते षट अनायतन, जो नरकों के दानी ।
तज देता है इनको, दर्शन प्रतिमा धारी ज्ञानी ॥

कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इन तीनों की उपासना करने वाले, ये छहों मिलकर छह अनायतन कहलाते हैं। दर्शन प्रतिमाधारी पुरुष इन छह अनायतनों की भूलकर भी संगति नहीं करते हैं, क्योंकि वे सांसारिक रागों को बढ़ाने वाले और मनुष्यों का नर्क में पतन कराने वाले होते हैं।



कुसास्त्रं विकहा रागं, तिक्तते सुद्ध दिस्टतं ।
कुसास्त्रं राग वृद्धन्ते, अभव्यं नरयं पतं ॥३८७॥

जिनके पृष्ठों पर दिखती हैं, पद पद पर विकथायें ।
दर्शनधारी उन ग्रंथों से, रंच न नेह लगायें ॥
राग बढ़ानेवाली ऐसी, होतीं जो भी वाणी ।
उनमें रत हो नर्कों में ही, लेता सांसें प्राणी ॥

कुशास्त्र विकथाओं में राग बढ़ाने के कारण जानकर दर्शन प्रतिमाधारी सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसे शास्त्रों की मान्यता नहीं करता, क्योंकि कुशास्त्र सांसारिक वासनाओं में राग बढ़ाकर अभव्य जीव को नर्क में पतन करा देते हैं।

अन्यानी मिथ्या संजुतं, तिक्तते सुद्ध दिस्टतं ।
सुद्धात्मा चेतना रूवं, सार्धं न्यान मयं धुवं ॥३८८॥

मिथ्यामति से पूरित होते, जो अज्ञानाचारी ।
उनकी भूल न संगति करते, दर्शन प्रतिमा धारी ॥
सत्, चित्, आनंद का ध्रुव निश्चल, मुकुट पहिरने वाला ।
होता है बस विज्ञ दार्शनिक का, साथी गुणवाला ॥

दर्शन प्रतिमा धारी पुरुष, अज्ञान तिमिर से व्याप्त तथा माया मिथ्याचार से सने हुये पुरुषों की संगति बिना विलम्ब, अकिंचन पदार्थ की नाई छोड़ देते हैं। उनके जीवन का बस एक ही साथी होता है और वह, उनका सत, चित्, ध्रुव, आनंद, ज्ञानमय आत्मा ! जो प्रतिनिमिष उनके अंतर से उन्हें अपनी अलौकिक छवि दिखलाया करता है।



मद अस्टं संसय अस्टं च, तिक्तते भव्य आत्मनः ।
सुद्ध पदं धुवं सार्धं, दर्सन मल विमुक्तयं ॥३८९॥

दर्शन प्रतिमाधारी होता, भव्य आत्मा भाई ।
त्रास नहीं देते उनको, मद आठ महा दुखदाई ॥
सम्यग्दर्शन के जो होते, आठ कलंक सुजन हैं ।
उनसे होकर मुक्त दार्शनिक, रहते आत्म मगन हैं ॥

दर्शनप्रतिमाधारी भव्य आत्मा के पास शंकादिक आठ मद भी नहीं रहने पाते हैं; इन दोषों को वे उसी क्षण पद से ठुकरा देते हैं, जिससमय वे इस पुण्य प्रतिमा को अंगीकार करते हैं। ज्ञान से ओत-प्रोत जो शुद्धात्मा है, उसी के चिंतवन में ये प्रतिमाधारी सर्व दोषों से मुक्त होकर निमग्न प्राय बने रहते हैं।

जे केवि मल संपूरनं, कुज्ञानं त्रि रतो सदा ।
ते तानि संग तिक्तंते, न किंचिदपि चिंतए ॥३९०॥

पंचबीश दोषों से रे ! जो, परिपूरित रहते हैं ।
जिनके उर में त्रय कुज्ञानों के, पोखर बहते हैं ॥
दर्शनप्रतिमाधारी उनका, नेक न चिंतन करता ।
वह उन मूढ़ों की संगति में, भूल न नेक विचरता ॥

जो मनुष्य शंकादिक आठ दोष, तीन मूढ़ता, छह अनायतन और आठ मद, सम्यक्त्व को दूषित करनेवाले इन पच्चीस दोषों से तथा तीन कुज्ञानों से युक्त होते है, उन पुरुषों को दर्शनप्रतिमाधारी भूलकर भी कभी संगति नहीं करता है, न उनका कभी वह चिंतवन ही करता है ।



मल मुक्तं दर्सनं सुद्धं, आराध्यते बुध जनै ।
संमिक दर्सन सुद्धं च, ज्ञानं चारित्र संजुतं ॥३९१॥

दर्शनप्रतिमाधारी धरते, वह समकित आभूषण ।
रंचमात्र जिसमें न दिखाते, शंकादिक अठ दूषण ॥
यदि सम्यग्दर्शन निश्चल है, ध्रुव है, शुद्ध, ममल है ।
तो ध्रुव, शुद्ध, ममल निश्चय से, ज्ञानाचार युगल है ॥

दर्शनप्रतिमाधारी सदा उस ही सम्यक्त्व की आराधना करते हैं, जो पच्चीस दोषों से सर्वथा मुक्त रहता है, क्योंकि मलरहित सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में सर्वोत्कृष्ट स्थान रखता है। जहां शुद्ध सम्यग्दर्शन है, वहां ज्ञान और चारित्र दोनों शुद्ध कहलाने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं और जहां पर सम्यक्त्व ही शुद्ध नहीं होता, वहां ज्ञान और चारित्र अशुद्ध ही रहते हैं ।

दर्सनं जस्य हृदयं च, दोषं तस्य न पस्यते ।
विनासं सकलं जानंते, स्वप्नं तस्य न दिस्टते ॥३९२॥

जिसके अंतर में दर्शन का, होता शुद्ध बसेरा ।
दोषों की टुकड़ी न जमाती, फिर उस थल में डेरा ॥
दर्शनप्रतिमाधारी को जग, दिखता झूठी माया ।
जड़ द्रव्यों की उसे न दिखती, सपनों तक में छाया ॥

जिसके हृदय में दर्शन का प्रखर प्रदीप जगमगाया करता है, उसे सांसारिक दोषों से रंचमात्र भी राग नहीं होता है। दार्शनिक संसार के सारे पुद्गल पदार्थों को क्षण भंगुर और विनाशीक मानता है और उसे ऐसे पदार्थ स्वप्न तक में भी अपनी ओर आकर्षित करने में सफल नहीं होते हैं।



संमिक्त दर्सनं सुद्धं, मिथ्या कुन्यान विलीयते ।
सुद्ध समय उत्पादंते, रजनी उदय भास्करं ॥३९३॥

जिसके अंतर में बहती है, सम्यग्दर्शन-धारा ।
अनृत, अचेतन ज्ञान वहां से, हो जाता चिर न्यारा ॥
समकित-मणि से आतम में त्यों, हो जाता उजियाला ।
रवि आने पर ज्यों दिन होता, ढुल जाता निशि प्याला ॥

जिसके अंतर में सम्यक्त्व की शुद्ध धारा बहती है, मिथ्या ज्ञान उसके हृदय में क्षणमात्र भी नहीं ठहरने पाता है और जिस तरह प्रभात होने पर, निशा का साम्राज्य मिट जाता है और चारों ओर सुहावनी लाली छा जाती है, उसी तरह सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा की विभाव परिणतियों का नाश होकर उसके चारों ओर शुद्धात्मा का शुभ्र प्रकाश छा जाता है।

दर्सनं तत्व सरधानं, तत्व नित्य प्रकासकं ।
ग्यानं तत्वानि वेदंते, दर्सन तत्व सार्धयं ॥३९४॥

आत्म तत्व में श्रद्धा करना ही, सम्यग्दर्शन है ।
सम्यग्दर्शन ही दर्शाता, तत्वों को बुधजन है ॥
आत्म तत्व में जब तक–जिस क्षण तक श्रद्धान न होगा ।
तब तक, उस क्षण तक, अंतर में सम्यग्ज्ञान न होगा ॥

आत्मतत्व में श्रद्धा करना—प्रतीति करना इसीका नाम सम्यग्दर्शन कहा गया है । यह सम्यग्दर्शन तत्वों के स्वरूप को प्रकाश में लानेवाला होता है, अतः जब तक सम्यग्दर्शन या आत्मतत्व में प्रतीति नहीं होती, तब तक मनुष्य को किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।



संमिक दर्सनं सुद्धं, उवंकारं च विंदते ।
धर्म ध्यानं उत्पाद्यंते, ह्रियं कारेण दिस्टिते ॥३९५॥

सम्यग्दर्शन का होता है, जब घट में उजियाला ।
तब ही छल छल छल कि छलकता शुद्धातम का प्याला ॥
दिखता है तब ही आतम में, परमातम पद न्यारा ।
धर्मध्यान का उदित तभी बस, होता है ध्रुव-तारा ॥

जब अन्तस्तल में सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य का उदय होता है, तभी महामंत्र ओम् का रहस्य समझने में आता है; तभी धर्मध्यान की उत्पत्ति होती है और तभी आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है । बिना सम्यक्त्व के इनमें से कोई सी भी बातें संभव नहीं होतीं ।

उवंकारं ह्रींकारं च, श्रींकारं प्रति पूर्नयं ।
ध्यानंति सुद्धध्यानं च, अनोव्रतं माधं धुवं ॥३९६॥

ॐ ह्रीं श्रींकार मयी जो, होता ध्यान विशद है ।
वही ध्यान है शुद्ध विज्ञजन, वही ध्यान सुखप्रद है ॥
दर्शनप्रतिमाधारी नितप्रति, ध्यान वही धरता है ।
इसी ध्यान सँग पंच अणुव्रत, वह पालन करता है ॥

ओम् ह्रीं श्रीं से जो परिपूर्ण ध्यान होता है, वही ध्यान आराधना करने के योग्य होता है। दर्शन-प्रतिमाधारी इसी ध्यान को लेकर शुद्धात्मा के ध्यान में तल्लीन होता है और अपने अणुव्रतों की साध पूरी करता है।



अन्यावेद कस्चैव, पदवी दुतिय आचार्यं ।
न्यानं मति श्रुतं चिंते, धर्म ध्यान रतो सदा ॥३९७॥

आज्ञा, वेदक समकित धरता, दर्शनप्रतिमाधारी ।
करता है क्रमशः व्रतप्रतिमा का, साधन सुखकारी ॥
मति श्रुतज्ञानों का नितप्रति ही, वह चिंतन करता है ।
परमानंद मगन हो नित वह, धर्मध्यान धरता है ॥

दर्शनप्रतिमाधारी को आगे चढ़ने के लिये नई सीढ़ी है व्रतप्रतिमा। सम्यक्त्व को पूर्ववत ही पालते हुए उसे जो अतिरिक्त साधनाएं करनी होती हैं, वे होती हैं मति और श्रुतज्ञान के द्वारा शास्त्राभ्यास और मन वचन काय की एकता से धर्मध्यान का साधन! और इन्हीं में वह अपना अभ्यास बढ़ाता रहता है।

अनेय व्रत कर्तव्यं, तप संजमं च धारनं ।
दर्सनं सुद्ध न जानंते, वृथं सकल विभ्रमं ॥३९८॥

कोई मानव कितने ही व्रत, कर तन क्षीण बनावे ?
जप, तप, संयम धारण कर, नितप्रति नव भक्ति बढ़ावे ?
पर यदि वह सत्पुरुष नहीं है, सम्यग्दर्शन धारी ।
तो उसके जप, तप, विभ्रम हैं, व्रत, संयम दुखकारी ॥

व्रतप्रतिमा की साधना में भी सम्यक्त की अत्यंतावश्यकता है, क्योंकि व्रत संयम, और तप, फिर वे चाहे कितनी ही संख्या में क्यों न किये गये हों, विना सम्यक्त के बिलकुल निरर्थक और निस्सार ही होते हैं और शुभ फल देने के बदले मनुष्य को विभ्रम-ग्रस्त बना देते हैं ।



अनेक पाठ पठनं च, अनेय क्रिया संजुतं ।
दर्सनं सुद्ध न जानंते, वृथा दान अनेकधा ॥३९९॥

कितने ही पाठों को कोई, नितप्रति क्यों न उचारे ?
चार भांति के पात्रदान कर, नित षटकर्म संवारे ॥
पर यदि वह सत्पुरुष नहीं है, सम्यग्दर्शनधारी ।
तो उसके सब दान विभ्रम हैं, पाठ सभी दुखकारी ॥

मनुष्य चाहे कितने ही पूजा और स्तुति के पाठ पढ़े; दान दे या अन्य अन्य धार्मिक क्रियाएं करने में दत्तचित्त रहे, किन्तु यदि उसे सम्यक्त का समीचीन बोध नहीं है या सम्यक्त से उसका हृदय अछूता है, तो उसके ये सारे क्रियाकाण्ड एकदम व्यर्थ और अशुद्ध हैं ।

दर्सनं यं हृदयं दिस्टं, सुयं न्यान उत्पादंते ।
कमठी दिस्टि यथा डिंभं, सुयं वर्धति यं बुधे ॥४००॥

जिसके अंतर में सम्यग्दर्शन, झर झर बहता है ।
उसमें शुचि श्रुतज्ञान निरन्तर ही, बढ़ता रहता है ॥
कछुए के अंडे पर रखती, दृग बस उसकी माता ।
इतनी ही सद्दृष्टि मात्र से, अंडा बढ़ता जाता ॥

जिसके हृदय में शुद्ध दर्शन विद्यमान रहता है, श्रुतज्ञान उसमें दिन प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में बढ़ता ही जाता है। कछुए की माता अपने अंडों पर प्रगाढ़ अनुराग की दृष्टि रखती है, पर इस अनुराग दृष्टि मात्रका फल यह होता है कि उसके अंडे अपने आप बढ़ते चले जाते हैं। उसे उनके लिये कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता।



दर्सनं जस्य हिदंश्रुतं, सुयं ज्ञानं च संभवं ।
मच्छका अंड जथा रेतं, सुयं वर्धन्ति जं बुधै ॥४०१॥

जिसका उर सम्यग्दर्शन का, पावन तीर्थस्थल है ।
उस उर को ही केन्द्र बनाता, नित श्रुतज्ञान विमल है ॥
बालू में मछली का अण्डा, जैसे बढ़ता जाता ।
तैसे ही समकित थल में, श्रुतज्ञान वृद्धि को पाता ॥

जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन का बीज विद्यमान रहता है, वहां श्रुतज्ञान उत्पन्न होकर अपने आप बढ़ता चला जाता है। मछली रेती में अपने अंडे रख देती है, इसके पश्चात् उसे उसकी चिन्ता नहीं रहती, किन्तु रेती का वातावरण उन अंडों के लिये कुछ ऐसा होता है कि वे वहां अपने आप बढ़ते चले जाते हैं।

दर्सन हीन तपं कृत्वा, व्रत संजम च धारना ।
चपलता हिंडि संसारे, जल मरनि ताल कीटऊ ॥४०२॥

सम्यग्दर्शन के बिन जो नर, जप, तप साधन करते ।
सामायिक श्रुत-पाठ-पठन कर, नित संयम आचरते ॥
वे मानव उन ताल-कंटकों सी ठोकर खाते हैं ।
सरवर तज, जो अन्य जलों में, शरण नहीं पाते हैं ॥

जो मनुष्य बिना सम्यक्त्व-आधार स्थल के व्रत, तप, संयम पाठ-पूजा व अन्य क्रियाएं करते हैं वे तालाब में से उखड़ी हुई उस सिंघाड़े की बेल के समान होते हैं, जो संसार के किसी अन्य जलाशय में, तीनों काल फिर आने के बाद भी, कभी शरण नहीं पाती है और इस तरह अपनी पूर्व स्थिति से हमेशा के लिये हाथ धोकर, संसार-सागर में भ्रमण मात्र किया करती है।



दर्सनं स्थिरं जेन, न्यानं चरनं च स्थिरं ।
संसारे तिक्त मोहंधं, मुक्ति स्थिरं सदा भवेत् ॥४०३॥

जिस उर में बहता ध्रुव, निश्चल, शुचि सम्यक्त्व सलिल है ।
उस उर में रहता ध्रुव, निश्चल, ज्ञानाचार युगल है ॥
जिसने इस मायावी जग से, अपना राग हटाया ।
उसने निश्चय ही ध्रुव, निश्चल मुक्तिनगर को पाया ॥

जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन का अविरल और अथाह स्रोत बहता है, उसका हृदय ज्ञान और चारित्र दोनों से भलीभांति परिपक्व हुआ करता है। बात यह है कि संसार की मूढ़ता में याने मिथ्यात्व में जो फंसा रहता है, वह तो संसार में ही फंसा रह जाता है और इससे विपरीत जो संसार से विलग हो जाता है अर्थात् सम्यक्त धारण कर लेता है, वह ज्ञान और चारित्र से भी निर्मल होकर एकदिन मुक्ति-सौख्य पाता और पाता ही है।

एतत दर्सनं दिस्टा, न्यानं चरण सुद्धए ।
उत्कृष्टं व्रतं सुद्धं, मोष्यगामी न संसयं ॥४०४॥

ज्ञान आचरण शुद्ध बनें, व्रत पावन, शुचि हो जायें ।
एकोद्देश्य यही ले भविजन, सम्यग्दर्शन ध्यायें ॥
इस विधि करता है जो, सम्यग्दर्शन का आराधन ।
वह नर निःशंकित पाता है, शिवपथ सुख का साधन ॥

ज्ञान और आचरण परिष्कृत बनकर, पूर्ण शुद्ध बन जायें, इस भावना को भाते हुए जो सम्यग्दर्शन की साधना करते हैं, वे नर मोक्ष के अनन्त सौख्य को पाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है।



व्रत प्रतिमा

दर्सनं साधनं जस्य, व्रत तपस्य उच्यते ।
सार्धं ति तत्वार्थं च, दर्सनं स्वात्म दर्सनं ॥४०५॥

जो मानव बन जाता है, दर्शन प्रतिमा का धारी ।
वह ही धारण कर सकता है, व्रत-प्रतिमा सुखकारी ॥
इस प्रतिमा में नित्य नियम से, वह व्रत, तप आचरता ।
आतम-चिंतनकर नितप्रति वह, आतम-दर्शन करता ॥

जो पुरुष सम्यग्दर्शन की साध पूरी कर लेता है, वही व्रतप्रतिमा धारण करने में समर्थ हो पाता है । इस प्रतिमा को धारण करनेवाला, व्रत, तप नियमों का पूर्ण पालन करनेवाला और अपने आत्मा का सदैव चिन्तवन करनेवाला प्राणी हुआ करता है ।

सामायिक प्रतिमा

मामायिकं नृतं जेन, मम संपूरन साद्धयं ।
ऊर्धं च अर्धं मध्यं च, मन रोधो स्वात्म चिंतनं ॥४०६॥

जो समता-जल से शुचि होकर, ध्यान अचल धरता है ।
वह नर ही सम्यक ध्रुव निश्चल, सामायिक करता है ॥
सामायिक तब ही, जब होता त्रिभुवन से मन न्यारा ।
ध्याता को प्रतिनिमिष, आत्म का होता दर्शन प्यारा ॥

जो समता-जल से शुचि होकर, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक इन तीनों लोकों से अपने मन को खींचकर अपनी आत्मा में दृढ़ रखता है और उसका भली प्रकार चिन्तवन करता है, वही पुरुष सामायिक की सम्यक् प्रकार साधना करता है और इसी प्रकार सामायिक करनेवाला सामायिक प्रतिमा का धारण करनेवाला कहा जाता है ।



आलापं भोजनं गच्छं, श्रुतं सोकं च विभ्रमं ।
मनो वच कायं सुद्धं, मामायिक स्वात्म चिंतनं ॥४०७॥

सामायिक प्रतिमाधारी जब, सामायिक को धारे ।
तब वह मन,वच,कायों की, सब हलन चलन निरवारे ॥
भोजन, विभ्रम, शोक, गमन, आलाप और श्रुत भाई ।
ये तज, ध्याता सामायिक में, ध्यावे आत्म सुहाई ॥

सामायिक प्रतिमा धारण करनेवाले को उचित है कि सामायिक करते समय वह मन, वचन, काय इन तीनों योगों को पूर्ण स्थिर करले; सामायिक के काल वार्तालाप, भोजन, आना जाना, किसी बात को सुनना, शोक, विभ्रम आदि बातों से पूर्ण मुक्त रहना चाहिये, जिससे कि मन की स्थिरता भंग न होने पावे ।

प्रोषधोपवास प्रतिमा

पोषह प्रोषधस्चैव, उववासं येन क्रीयते ।
संमिक्त जस्य हृदयं सुद्धं, उववासं तस्य उच्यते ॥४०८॥

प्रोषध या पर्वों के दिन, उपवास जो नर करता है ।
वह प्रोषध-उपवास नाम की, शुचि प्रतिमा धरता है ॥
पर इस प्रतिमा का धारी, बस होता वह ही जन है ।
जिसके अंतरतम में रहता, ध्रुव सम्यग्दर्शन है ॥

प्रोषधोपवास प्रतिमा में पोषहरूप या पर्वों के दिन उपवास करने का नियम लिया जाता है। जो मनुष्य पर्वों के दिन या पोषहरूप नियम से सम्यक्त सहित उपवास करता है, वही प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारण करनेवाला कहा जाता है।



संसार विरचितं जेन, सुद्ध तत्वं च सार्धयं ।
सुद्ध दिस्टी स्थिरीभूतं उववासं तस्य उच्यते ॥४०९॥

सांसारिक रागों को जिसने, पद-तल से ठुकराया ।
शुद्ध आत्म को ही जिसने, अपना आराध्य बनाया ॥
जिस उर में धधका करती है, समकित की चिङ्गारी ।
वह नर ही प्रोषध करने का, है सम्यक् अधिकारी ॥

लंघन का नाम उपवास नहीं ! जिसने सांसारिक रागों से मोह छोड़ दिया; शुद्ध तत्व की जिसके हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई तथा जिसके अंतर प्रदेश में सम्यक्त्व की कभी नहीं बुझने वाली आग प्रदीप्त हुआ करे उसी पुरुष के उपवास का नाम वास्तविक उपवास है और ऐसा ही उपवास प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी को करने का निर्देशन किया गया है ।

उववासं इच्छनं कृत्वा, जिन उक्तं इच्छनं जथा ।
भक्ति पूर्वं च इच्छंते, तस्य हृदय समाचरेत् ॥४१०॥

जो मानव प्रोषध करने की, शुभ इच्छा करता है ।
वह विराग के आदेशों को, मस्तक पर धरता है ॥
पर अंतरतम से ही जब, उपवास किया जाता है ।
तब ही वह उपवास नाम की, शुचि संज्ञा पाता है ॥

उपवास करने की साधारण इच्छा करना, जिनराज प्रभु के आदेशों का सम्मान करना है, किन्तु इच्छा में भक्ति या सम्यक्त का समावेश हो जाना—आदेशों को मान्य कर लेना प्रत्यक्ष या क्रियारूप में उपवास कर लेना है। तात्पर्य यह कि उपवास तभी होता है, जब उसकी सारी क्रियाओं में सम्यक्त का भलीभाँति तारतम्य हो, विना उसके सम्यक् उपवास संभव नहीं।



उववासं व्रतं सुद्धं, सेमं संसार तिक्तयं ।
पछितो तिक्त आहारं उववासं तस्य उच्यते ॥४११॥

सुजन-शिरोमणि जिस दिन साधें, रे ! उपवास प्रियङ्कर ।
उस दिन वे भव ममता छोड़ें, छोड़ें भाव भयङ्कर ॥
इन संकल्पों को लेकर, जो भोजन छोड़ा जाता ।
वह ही जिन शासन में भव्यो, शुचि 'उपवास' कहाता ॥

जिस दिन उपवास की साधना की गई हो, उस दिनके जीवन में 'शुद्ध उपवास व्रत' ही गूंजना चाहिये और कुछ नहीं। सारे संसार की ममता उस दिन छोड़ दी जाना चाहिये और वह भी प्रतिज्ञा रूपसे अर्थात् उपवास करने की प्रतिज्ञा से पहले यह संकल्प कर लेना चाहिये कि आज मुझे भव, तन और भोग इन तीनों का परित्याग है। संकल्प रूपसे संसार को त्यागना और फिर उपवास धारण करना, बस इसी का नाम शुद्ध उपवास है।

उववासं फलं प्रोक्तं, मुक्ति मार्गस्य निस्चयं ।
संसार दुःख नासंते, उववासं सुद्धं फलं ॥४१२॥

विज्ञो ! यह उपवास अनेकों, मृदु फल का दाता है ।
इसका साधक मुक्तिमार्ग को, निश्चल ही पाता है ॥
इस तप से सांसारिक दुःखों का, दल-बल मिट जाता ।
स्वात्म-रमण-सुख इस साधन से, वृद्धि अलौकिक पाता ॥

जो पुरुष सम्यक् उपवास का साधन करता है, वह नियम से मोक्षफल का भोगनेवाला बन जाया करता है। इस उपवास-साधन से जहाँ संसार दुःखों का नाश हो जाता है, वहाँ आत्म-भावों की भी अलौकिक रूप से वृद्धि होते, इसी उपवास से देखी गई है ।



संमिक्त बिना व्रत जेन, तपं अनादि कालयं ।
उववासं मास पाषं च, संसारे दुष दारुनं ॥४१३॥

सम्यग्दर्शन बिन, अनादिकालीन तपस्याधारी ।
मिथ्या तप तपने से पाता, भव भव दुख दुखकारी ॥
मासों के पक्षों के भी उपवास, तभी सुखदाई ।
उनके कण कण में जब गूंजें, दर्शन-चरण सुहाई ॥

बिना सम्यक्त के साधे हुए व्रत, तप और क्रियाकांड ये सब मात्र संसार के दुःखों को ही बढ़ाने वाले हुआ करते हैं फिर ये व्रत तप अनादिकाल से ही और पक्ष और मासों के ही होते क्यों न चले आये हों ?

उववासं एक सुद्धं च, मन सुद्धं तत्व मार्धयं ।
मुक्ति श्रियं पथं सुद्धं प्राप्तं नात्र (न अत्र) संसया ॥४१४॥

आत्म तत्व की मधुर भावना का पी मादक प्याला ।
अपने वश कर अपना दुर्दम, मन-मधुकर मतवाला ॥
एक बार भी कर लेता रे! जो उपवास सुजन है ।
वह निश्चय से पा जाता, चिर सुख का नन्दन-वन है ॥

जो पुरुष शुद्धात्म भाव से, शुद्ध मन के साथ केवल एक उपवास कर लेता है, वह मुक्ति के पथ को पा जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ।



सचित्त त्याग प्रतिमा

सचित्त चिंतनं कृत्वा, चेतयंति सदा बुधै ।
अचेतं असत्य तिक्तंते, सचित्त प्रतिमा उच्यते ॥४१५॥

जो सचित्त या शुद्ध आत्मा, है अगणित सुख साधन ।
करते हैं उसका ही नितप्रति, जो अर्चन गुणवादन ॥
असत्, अचेतन का न कभी भी, जो चिंतन करते हैं ।
वे सज्जनगण सचित त्याग नामक प्रतिमा धरते हैं ॥

जो नित्यप्रति सचित्त अथवा शुद्धात्मा के चिंतवन में ही लीन रहता है; अचित्त, अचेत और असत्य पदार्थ का जो बिलकुल ही वर्जन कर देता है, वह प्रज्ञाधर सचित्त प्रतिमा का धारी कहलाता है।

मचित्तं हिरतं जेन, तिक्तंते न विरोधनं ।
मचित्तं मन्मूर्छनं च, तिक्तंते सदा बुधे ॥४१६॥

हरित वनस्पतियें जो मानव, रंच नहीं खाते हैं ।
जो प्रमादवश व्यर्थ न उनको, पीड़ा पहुँचाते हैं ॥
सचित, एकेन्द्रिय, सम्मूर्च्छन भी तज देते जो प्राणी ।
वे ही होते हैं, सचित्त प्रतिमा के धारी ज्ञानी ॥

जो सचित्त या हरित वनस्पतियों का और एकेन्द्रिय सम्मूर्छन का बिलकुल त्याग कर देते हैं तथा जो किसी भी वनस्पतिकायिक जीव को प्रमादवश न तो तोड़ते हैं, न उसे व्यर्थ में किसी प्रकार का कष्ट ही पहुँचाते हैं, वही पुरुष सचित्तप्रतिमा के धारण करनेवाले कहलाते हैं ।



सचित्तं हिरतं त्तिक्तं, अचित्तं सार्ध तिक्तयं ।
मचित चेतना भावं, मचित्त प्रतिमा सदा बुधे ॥४१७॥

सचित वनस्पति साथ मिली हुई, अचित वनस्पति प्राणी ।
सेवन करते हैं न कभी, पंचम-प्रतिमा-धर ज्ञानी ॥
जो सचेत आतम होता है, सत्, चित्, सुख का साधन ।
सचित-त्याग-प्रतिमा-धर करते, उसका ही आराधन ॥

जो सचित्त या हरित वनस्पतियों का तो त्याग कर ही देते हैं, किन्तु जो सचित्त के साथ मिली हुई अचित्त वनस्पति का सेवन भी नहीं करते हैं; सदा शुद्धात्मा के ध्यान में ही जो तल्लीन रहा करते हैं, वही पुरुष सचित्तप्रतिमा का धारण करनेवाले कहलाते हैं ।

अनुराग भुक्ति प्रतिमा

अनुराग भक्तिं दिस्टं च, राग दोषं न दिस्टते ।
मिथ्या कुन्यान तिक्तं च, अनुरागं तत्र उच्यते ॥४१८॥

राग द्वेष, कुज्ञान कषायें, जिसने छोड़ दिये हैं ।
जाग गये आतम चिंतन से, जिनके हृदय-दिये हैं ॥
असत्, अनृत, त्रय शल्यों के दल, जिनसे दूर विचरते ।
वे मानव अनुराग-भुक्ति, षष्ठम प्रतिमा हैं धरते ॥

जो रागद्वेष के विकारों से सर्वथा रहित हो जाता है; मिथ्यात्व और कुज्ञान जिससे भलीभाँति विलग् हो जाते हैं तथा जिसका हृदयाकाश आत्मा के शुद्ध और प्रखर प्रकाश से जगमग कर उठता है, वही नर अनुराग भुक्ति प्रतिमा धारण करने के योग्य होता है।



सुद्ध तत्वं च आराध्यं, असत्यं सर्व तिक्तयं ।
मिथ्या मंग विनिर्मुक्तं, अनुराग भक्ति सार्धयं ॥४१९॥

शुद्ध तत्त्व का ही जिस उर में, शुचि निर्झर बहता है ।
असत्, अचेतन संगों से जो, दूर-दूर रहता है ॥
मिथ्यादर्शन की जिस पर रे ! पड़ती छाँह न काली ।
वह ही जन अनुराग-भुक्ति-धर, होता गौरवशाली ॥

जो मनुष्य शुद्ध तत्त्व का आराधन करता है और असत्य अनृत पदार्थों के राग तथा तीन शल्यों के ताप से बिलकुल पृथक हो जाता है, वही अनुराग-भक्ति प्रतिमा धारण करने में समर्थ होता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

बंभ अबंभं तिक्तं च, सुद्ध दिस्टी रतो सदा ।
सुद्ध दर्सन ममं सुद्धं, अबंभं तिक्त निस्चयं ॥४२०॥

ब्रह्मचर्य्य प्रतिमा में नित मन, ब्रह्म-रमण करता है ।
इसका साधक शुद्ध दृष्टि हो, ब्रह्म ध्यान धरता है ॥
सम्यग्दर्शन-सी भावों में, जब शुचिता आ जाती ।
ब्रह्मचर्य-प्रतिमा तबही आ, अंतर-सेज सजाती ॥

ब्रह्मचर्य प्रतिमा में ब्रह्म का पालन और अब्रह्म का त्याग करना होता है। इस प्रतिमाधारी का मन नितप्रति ब्रह्म में ही रमण किया करता है; उसके हृदय में शुद्धदृष्टि का जागरण और समता भाव का उदय हो जाता है। जब आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रखर प्रकाश हो जाता है, तभी ब्रह्मचर्य्य नामक प्रतिमा का धारण किया जाता है।



जस्य चितं ध्रुवं निस्चय, ऊर्ध अधो च मध्ययं ।
जस्य चित्तं न रागादि, प्रपंचं तस्य न पस्यते ॥४२१॥

ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी का, मन निश्चल रहता है ।
त्रिभुवन तल में चित्त न उसका, नेक कहीं बहता है ॥
जिसके उर में रागद्वेष के, उड़ते मेघ न काले ।
उसमें बहते हैं न प्रपंचों के, मलपूरित नाले ॥

ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी का चित्त ऊर्ध्व, अधो और मध्यलोक इन तीनों लोकों में कहीं भी विचलित नहीं होता; सदा समताभाव में लीन बना रहता है; उसके सन्निकट रागद्वेष स्वप्न में भी नहीं आने पाते और न वह कभी प्रपंचों के जाल पूरने में ही व्यस्त रहता पाया जाता है।

विकहा विसन उत्तं च, चक्र धरनेंद्र इन्द्रयं ।
नरेन्द्र विभ्रमं रूपं, वर्नत्वं विकहा उच्यते ॥४२२॥

सप्त व्यसन से सम्बन्धित जो, चर्चाएं रहती हैं ।
चक्र, इन्द्र, धरणेन्द्रों की जो, चर्चाएं कहती हैं ॥
ऐसी चर्चाएं जो मनमें, रागादिक उपजातीं ।
परम, श्रेष्ठ, जिनवर के द्वारा, विकथाएं कहलातीं ॥

जिनमें व्यसनों की, चक्रवर्तियों की, इन्द्रों की, धरणेन्द्रों की, राजाओं की या ऐसी चर्चा रहती है जो मन में रागद्वेष या विभ्रम उपजावें, वे सब कथानक विकथाएं कहलाते हैं ।



व्रत भंगं राग चिंतते, विकहा मिथ्या रंजितं ।
अबंभं तिक्त बंभं च, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥४२३॥

झूठे रागों के चिन्तन से, व्रत खण्डित हो जाते ।
विकथाओं से अनृत् असत्, मिथ्यात्व हृदय में आते ॥
यह सारी अब्रह्म-क्रिया, जब सब तज दी जाती है ।
ब्रह्मचर्य प्रतिमा तब ही, निज मुद्रा दिखलाती है ॥

इन रागद्वेष और मिथ्यात्व से सनी हुई विकथाओं के चिन्तवन से ब्रह्मचर्य्य नामक व्रत भंग हो जाता है, क्योंकि इनके कहने सुनने से अब्रह्म पोषण का दूषण लगता है । जब अब्रह्म उपासना का सर्वथा त्याग हो जाता है तब ही सफलता पूर्वक ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की जा सकती है ।

यदि बंभचारिनो जीवो, भाव सुद्धं न दिस्टते ।
विकहा राग रंजंते, प्रतिमा बंभ गतं पुनः ॥४२४॥

ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी यदि, भाव अशुद्ध न होवे ।
विकथा-रागों में ही यदि वह, काल अमोलक खोवे ॥
तो वह अपनी प्रतिमा से च्युत, खंडित हो जाता है ।
ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी वह, भूल न कहलाता है ॥

यदि ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी के भावों में शुचिता दृष्टिगोचर नहीं होती है और यदि वह विकथाओं के कहने सुनने ही में आनन्द मनाता रहता है तो उसकी प्रतिमा भंग हो जाती है और फिर वह पुरुष किसी भी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने का अधिकारी नहीं कहला पाता है।



चित्तं निरोधतं जेन, सुद्ध तत्वं च मार्धयं ।
तस्य ध्यानं च स्थितं भूतं, बंभ प्रतिमा स उच्यते ॥४२५॥

आत्म-कुंज में ही करता है, जिसका मन-कपि क्रीड़ा ।
रागादिक जिसके उर में आ, देते नेक न पीड़ा ॥
स्वात्म-मग्न हो आतम की ही, जो अर्चन करता है ।
वह मानव ही सप्तम प्रतिमा, ब्रह्मचर्य्य धरता है ॥

जिसको अपने मनके ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और जो उसे सदा अपने शुद्धात्म-कुंज में स्थिरीभूत बनाये रहता है, वही आत्मा का पुजारी ब्रह्मचर्य प्रतिमा पालने में समर्थ हो पाता है।

आरंभ त्याग प्रतिमा

आरंभं मन पसरस्य, दिस्टं अदिस्टं संजुतं ।
निरोधनं च कृतं तस्य, सुद्ध भावं च संजुतं ॥४२६॥

देखा या कि सुना था जिसको, अवसर पाकर पाया ।
ऐसे जिन आरंभों में, जिसने मनको न भुलाया ॥
शुद्ध भावनाओं से करता, जो नर हृदय उजागर ।
वह आरंभ-त्याग-प्रतिमाधर, होता सुजन गुणागर ॥

जो देखे हुए, सुने हुए, अनुभव किये हुए या अवसर पाकर पाये हुए किसी भी आरंभ में अपने मनको नहीं लगाता है; आरंभों की ओर से सदा उदासीन भाव धारण किये रहता है और सदा शुद्धात्म-चिंतवन में लीन रहा करता है, वह पुरुष आरंभत्याग नाम की प्रतिमा का पालन करता है।



अनृत अचेत असत्यं, आरंभं जेन क्रीयते ।
जिन उक्तं न दिस्टंते, जिनद्रोही मिथ्या तत्परा ॥४२७॥

अनृत, अचेत, असत्यपूर्ण जो, करते आरंभ काले ।
श्री जिन के आदेशों को जो, भूल रहे मतवाले ॥
ऐसे अज्ञानी, पापी, उदरों के पोषी मोही ।
होते हैं जिन-आज्ञा-लोपी, मिथ्यात्वी, जिनद्रोही ॥

जो विवेकाविवेक छोड़कर, अनृत, अचेत और असत्य उद्यमों को उदर पोषण की दृष्टि से अपने हाथ में लेते हैं, वे सर्वज्ञ महाप्रभु के आदेशों का रंच मात्र भी पालन नहीं करते और इस तरह मिथ्यात्व पूरित कर्म करने में तत्पर हो, जिनद्रोह का पाप अपने शीश पर उठाते हैं।

अदेवं अगुरं जेन अधर्मं क्रियते सदा ।
विस्वासं जेन जीवस्य, दुग्गतिं दुप भाजनं ॥४२८॥

जो आरंभ परिग्रह के, जालों में फँस जाता है ।
वह अदेव, अगुरों की सेवा में, निज को पाता है ॥
करता है वह नर अधर्म की, सेवाएं दुखकारी ।
और इस तरह बनता है वह, दुर्गतियों का धारी ॥

जो अविवेकी पापों से सने हुए आरंभ परिग्रहों में आसक्त हो जाता है, वह अदेवों की और अगुरों की उपासना करने में व अधर्म से पूरित क्रियाओं के करने में पूरी तौर से फंस जाता है और इन अपूज्य तत्वों की पूजा करके अंतकाल तक दुर्गतियों का पात्र बनता है।



आरंभं परिग्रहं दिस्टं, अनंतानंत च तुस्टये ।
ते नरा न्यानहीनस्य, दुग्गति गमनं न संसयः ॥४२९॥

अज्ञानी जगती के वैभव, देख देख ललचाता ।
वह भी उनही से आरंभों में, निज पैर बढ़ाता ॥
पर आरंभ महा दुखदाई, आरंभी अज्ञानी ।
आरंभी दुर्गति का बनता, पात्र निसंशय ज्ञानी ॥

अज्ञानी पुरुष दूसरों के आरंभों को देखकर मन ही मन ललचाया करता है और स्वयं भी उनही जैसे आरंभों को करने की बातें मन में सोचा करता है परन्तु ऐसा पुरुष विवेक से बिलकुल रहित होता है। क्या उसके भी अज्ञान की कोई सीमा होती है ? हिंसा से हुए आरंभ, अनन्तानंत प्राणियों के प्राण लेने के कारण और अशुभ ध्यान के प्रमुख द्वार हुआ करते हैं। अतः प्राणियों को वे दुर्गति प्रदान करते ही हैं, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

आरंभं सुद्ध दिस्टं च, संमिक्तं सुद्धं धुवं ।
दर्सनं ज्ञान चारित्रं, आरंभ सुद्ध सास्वतं ॥४३०॥

ज्ञानी का आरंभ यही, मैं शुद्ध भाव कब पाऊँ ?
दर्शन का भाजन बन, कब मैं सम्यग्दृष्टि कहाऊँ ?
दर्शन पाकर कौन करूँ मैं, ऐसा उद्यम भारी ।
हो जाऊँ जिससे बड़भागी, ज्ञान-आचरण धारी ?

ज्ञानीजनों का एक ही आरंभ होता है, और वह है अपने अमूल्य शुद्धात्मिक भावों को पाने की उत्तरोत्तर उत्कट अभिलाषा । वह प्रतिनिमिष यही चिन्तवन करता रहता है कि ऐसा कौनसा दिन आवे कि मैं शुद्ध सम्यग्दर्शन पा जाऊँ; किसदिन मेरा हृदय दर्शन से पूरित हो दिवाली सा जगमगा उठे और दर्शन से पूर्ण होकर मैं कौन सा ऐसा उद्यम करूँ कि ज्ञान और चारित्र से पूर्ण होकर मैं सम्यक् प्रकार पूर्ण बन जाऊँ; मुझे फिर कुछ भी करने को शेष न रहे ! ज्ञानी का ऐसा आरंभ ही शुद्ध आरंभ कहलाता है, और यही आरंभ मोक्षलक्ष्मी को प्रदान करने वाला हुआ करता है ।



आरंभं सुद्ध तत्वं च, संसार दुष तिक्तयं ।
मोष्यमार्गं च दिस्टंते, प्राप्तं सास्वतं पदं ॥४३१॥

आत्मतत्व का ही विज्ञो ! आरंभ सदा सुखकर है ।
यह दिखलाता, अविनाशी, शिव सुन्दर मोक्ष-नगर है ॥
सांसारिक दुख इससे सारे, नष्ट-भ्रष्ट हो जाते ।
शुद्ध तत्व-आरंभी निश्चय, मुक्ति-महा-पथ पाते ॥

शुद्ध तत्व से सम्बन्ध रखनेवाले आरंभ ही संसार में वास्तविक सुख प्रदान करने वाले हुआ करते हैं । ये आरंभ संसार को सुष्क बना देते हैं, मनुष्य को उस लोक का वासी बना देते हैं, जहाँ से वह फिर कभी लौटकर नहीं आता ।

परिग्रह त्याग प्रतिमा

परिग्रहं पुद्गलार्थं च, परिग्रहं नवि चिंतए ।
ग्रहणं दर्सनं सुद्धं, परिग्रह नवि दिस्टते ॥४३२॥

नश्वर पुद्गल हेतु परिग्रह, जो भी रक्खे जाते ।
संग-त्याग प्रतिमा में मानव, उन सबही को ठुकराते ॥
एकमात्र सम्यग्दर्शन को ही, वे ग्राह्य बनाते ।
बाह्य परिग्रह के दलदल से, वे निज नेह हटाते ॥

परिग्रह त्याग प्रतिमा में इस नश्वर शरीर के लिये जितने भी परिग्रहों का संयम किया जाता है, उन सबका त्याग कर दिया जाता है। जिससे सम्बन्ध रखा जाता है ऐसी वस्तु केवल शुद्ध सम्यक्त्व ही होती है, जो उसकी स्वयं आत्मा की निधि होती है। दूसरे बाह्य परिग्रहों से इस प्रतिमा का धारी अपने सब सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है ।



अनुमति त्याग प्रतिमा

अनुमतं न दातव्यं, मिथ्या रागादि देसनं ।
अहिंसा भाव सुद्धस्य, अनुमतिं न चिंतए ॥४३३॥

इस जग में जो रागवर्द्धिनी, चर्चाएं रहती हैं ।
जिनमें सांसारिक विषयों की, धाराएं बहती हैं ॥
अनुमति-त्यागी इनमें बनते, नेक न सम्मतिदाता ।
शुद्ध अहिंसक भावों का ही, उनमें सर लहराता ॥

अनुमतित्याग प्रतिमा का धारी ऐसे किन्हीं विषयों पर अपनी सम्मति प्रदान नहीं करता, जिनका संबंध मिथ्या रागादि भावों से हुआ करता है। अहिंसा या आत्मभावों से युक्त जितने विषय हुआ करते हैं इस प्रतिमा का धारी केवल उन्हीं का चिंतवन करता है और जग से उदासीन रहकर केवल उन्हीं में लवलीन रहा करता है।

उद्दिष्ट भोजन त्याग प्रतिमा

उद्दिष्टं उत्कृष्ट भावेन, दर्सन न्यान संजुतं ।
चरनं सुद्ध भावस्य, उद्दिष्टं आहार सुद्धये ॥४३४॥

दर्शन ज्ञानमयी चारित की, धरता जो नर माला ।
जिसके उर में श्रेष्ठ भाव नित, करते हैं उजियाला ॥
जग से निर्मम ऐसा होता, जो श्रावक बड़भागी ।
होता वह उद्दिष्ट अशन का, पूर्णरूप से त्यागी ॥

जो श्रावक दर्शन ज्ञान के सहित शुद्ध चारित्र का पालन करता है तथा शुद्ध भावों का जो निधान होता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमा में जाकर उस भोजन का सर्वथा त्यागी हो जाता है, जो किसी भी गृहस्थ के यहां उसके निमित्त से बनाया जाता है।



अंतराय मनं कृत्वा, वचनं काय उच्यते ।
मन सुद्धं, वच सुद्धं च, उद्दिस्टं आहार सुद्धये ॥४३५॥

होता जो उद्दिष्ट अशन-त्यागी, प्रतिमाधर प्राणी ।
होता वह मन-शुद्ध, शुद्ध होती है उसकी वाणी ॥
मन, वच, कायिक होते जितने, अंतराय के दल हैं ।
उनका रखते ध्यान सदा ही, ये योगी पल पल हैं ॥

उद्दिष्ट भोजन-त्याग प्रतिमा धारण करनेवाले मन शुद्ध, वचन शुद्ध तथा काया शुद्ध उत्कृष्ट श्रावक हुआ करते हैं। वे भोजन करते समय उन सभी अंतरायों का ध्यान रखते हैं जो मन वच तन इन तीनों में से किसी से भी सम्बन्ध रखते हैं, उनको बचाकर ही आहार करते हैं।

प्रतिमा एकादसं जेन, जिन उक्तं जिनागमे ।
पालंति भव्य जीवानं, मन सुद्धं स्वात्म चिंतनं ॥४३६॥

श्री सर्वज्ञ जिन्हें दर्शाते, जिनश्रुत जिनको गायें ।
उनही के अनुरूप व्यक्त कीं, एकादश प्रतिमायें ॥
इन प्रतिमाओं को वे ही, भविजन पालन करते हैं ।
जो हो मनसा शुद्ध, आत्म का ध्यान सदा धरते हैं ॥

श्री जिनेन्द्र प्रभु द्वारा निर्दिष्ट दो ग्यारह प्रतिमाएं हैं उनका वे ही भव्यजीव पालन करते हैं जो अपने मन को सर्वदा शुद्ध रखते हैं तथा अपने आत्मा के ही चिंतवन में जो निरन्तर लवलीन रहा करते हैं ।



पंच अणुव्रतों की निर्मलता में उत्तरोत्तर वृद्धि



अनुव्रतं पंच उत्पादंते, अहिंसा नृत उच्यते ।
अस्तेयं ब्रह्म व्रतं सुद्धं, अपरिग्रहं स उच्यते ॥४३७॥

हिंसा, चोरी, झूठ, परिग्रह, और कुशील दुखारी ।
इनसे उलटे होते हैं जो, अणुव्रत पांच सुखारी ॥
जो गृहस्थगण ग्यारह प्रतिमायें, क्रमशः धरते हैं ।
ये पांचों अणुव्रत वे पल पल, वृद्धिंगत करते हैं ॥

जो श्रावक उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, वे निम्नांकित पांच अणुव्रतों का पालन करते हैं, और उन्हें क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं । १–अहिंसा, २–सत्य, ३–अस्तेय, ४–ब्रह्मचर्य्य, ५–अपरिग्रह ।

अहिंसा

हिंसा असत्य सहितस्य, राग दोष पापादिकं ।
थावरं त्रस आरंभं, तिक्तते जे विचष्यना ॥४३८॥

रे ! असत्य से परिपूरित, रहती है जिसकी काया ।
रागद्वेष आदिक मल की, दिखती है जिसमें छाया ॥
स्थावर, त्रस के आरंभों से, जिसमें दोष हैं भारी ।
ऐसी हिंसा भूल न करते, ज्ञान-निकुंज-बिहारी ॥

जो विवेकी पुरुष होते हैं वे ऐसी उस हिंसा को, जो असत्य से परिपूरित होती है, जिसमें राग-द्वेष आदि पापों के मल्लों नाले रहते हैं, तथा जिसमें स्थावर और त्रस जीवों के आरंभ करने का पाप लगता है, सर्वथा त्याग देते हैं। और इस तरह अहिंसाणुव्रत का पालन करते हैं।



सत्य

अनृतं अनृतं वाक्यं, अनृत अचेत दिस्टते ।
असास्वतं वचन प्रोक्तं च, अनृतं तस्य उच्यते ॥४३९॥

अनृत, अनृत ही है, क्या उसकी पर परिभाषा भाई ।
दिखलाता यह अनृत, अचेतनता की जग को खाई ॥
क्षणभंगुर द्रव्यों को कहना, ये सब अजर अमर हैं ।
ये अक्षर, पद, वाक्य असत् सब, और अनृत के घर हैं ॥

मिथ्या बोलना, यही असत्य की एकमात्र परिभाषा है। इस असत्य की शरण लेने से अनृत और अचेत वस्तुओं में आसक्ति बढ़ जाती है और फिर प्राणी स्वभावत: अनृत और अचेत सा हो जाता है। नाशवंत वस्तुओं को विनाश रहित शाश्वत वस्तुएं कहना, यह भी असत्य भाषण ही कहलाता है। इनसे विरत रहना सत्याणुव्रत पालन करना होता है।

अचौर्य

अस्तेयं स्तेय कर्मस्य, चौर भावं न क्रीयते ।
जिन उक्तं वचन सुद्धं च, असतेयं लोपनं कृतं ॥४४०॥

चौर कर्म या चौर भाव, करना ही चोरी ज्ञानी ।
कहते हैं यह वाक्य, परम प्रभु, बीतराग विज्ञानी ॥
श्री जिन के वचनों का करता है, जो लोपन भाई ।
वह भी चोरीजनित पाप की, करता मूढ़ कमाई ॥

चोरी करना या चोरी करने के भाव करना, यही स्तेय या चौर्य कर्म कहलाता है । जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए वचनों का लोप करना या उनके अर्थ का अनर्थ करना, यह भी चौर्य कर्म का एक अंग होता है, और जहाँ पर ये कर्म नहीं किये जाते, वहीं अचौर्याणुव्रत का पालन होता है ।



ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यं च सुद्धं च, अबंभं भाव तिक्तयं ।
विकहा राग मिथ्यात्वं, तिक्तं बंभ व्रतं ध्रुवं ॥४४१॥

ब्रह्मचर्य वह ही, अब्रह्म का, त्याग जहाँ पर होवे ।
आत्मकुंज में जाकर यह मन, निश्चल सुख में सोवे ॥
जितनी विकथायें व राग हैं, हैं मिथ्यात्व दुखारी ।
हेय जान उनको तज देता, ब्रह्मचर्य-व्रतधारी ॥

शुद्धात्मा में रमण करना, और अब्रह्म भावों का त्याग करना, इसी का नाम ब्रह्मचर्य्य और इससे विपरीत कर्मों का नाम कुशील-सेवन है । इस अणुव्रत में उन सारी विकथाओं का कहना सुनना भी त्याग देना होता है जो मिथ्यात्व, राग भावों से सम्बन्ध रखती हैं और आत्मा के परिणामों को कलुषित बनाती हैं ।

मन वचन काय हृदयं सुद्धं, सुद्ध समय जिनागमं ।
विकहा काम मद्भावं, तिक्तते ब्रह्मचारिना ॥४४२॥

ब्रह्मचर्य व्रत का धारी जो, होता है गुण आगर ।
वह त्रियोग को आतमरत रख, रखता नित्य उजागर ॥
ऐसी चर्चाओं से वह नर, भिन्न सदा रहता है ।
कामभाव, विकथाओं का, जिनमें पोखर बहता है ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत को पालने वाले जो ब्रह्मचारी होते हैं वे मन वचन काय-त्रियोग को सर्वदा निज आत्मा में और आर्षकथित ग्रन्थों में संलग्न बनाये रखते हैं। उनका मन वचन या तन ऐसी विकथाओं में रंजायमान नहीं होने पाता, जो विषय-वासनाओं से भरी हुई होती हैं, और जिनके कहने सुनने से कामभावना जाग्रत हो जाती है।



अपरिग्रह

परिग्रह प्रमानं कृत्वा, पर द्रव्यं नवि दिस्टते ।
अनृत असत्य तिक्तं च, परिग्रह प्रमानस्तथा ॥४४३॥

बाह्य परिग्रह-दल प्रमाण जब, मानव करलेता है ।
पर द्रव्यों की ओर तनिक भी, दृष्टि नहीं देता है ॥
अनृत, असत् द्रव्यों से बिलकुल, तजदेता है नाता ।
वह नर तब परिग्रह-प्रमाण-व्रत, का धारी कहलाता ॥

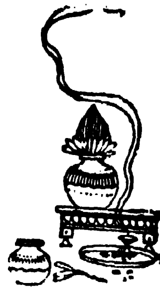
परिग्रह-परिमाण व्रत में परिग्रहों का एक परिमाण कर लिया जाता है—एक सीमा बाँध ली जाती है, और उस सीमा के बाद संसार का सारा द्रव्य मिट्टी के ढेले के समान ही समझा जाता है। अनृत और असत्य पदार्थों से भी इस व्रत में सर्वथा नाता तोड़ दिया जाता है। जो इस व्रत का पालने वाला होता है वह आवश्यकतानुसार परिग्रह रखते हुए भी अंतःकरण से निर्मोही बना रहता है।

एतत् क्रिया संजुक्तं, संमिक्तं सार्धं धुवं ।
ध्यानं सुद्ध समयस्य, उत्कृष्टं स्रावकं धुवं ॥४४४॥

एकादश प्रतिमाओं को, सम्यक् विधि पालन करते ।
पंच अणुव्रत को क्रमशः, निज जीवन में आचरते ॥
दर्शनयुत हो स्वात्म-मनन के, पीते हैं जो प्याले ।
वे मानव ही सद्गृहस्थ हैं, श्रावक-कुल-उजियाले ॥

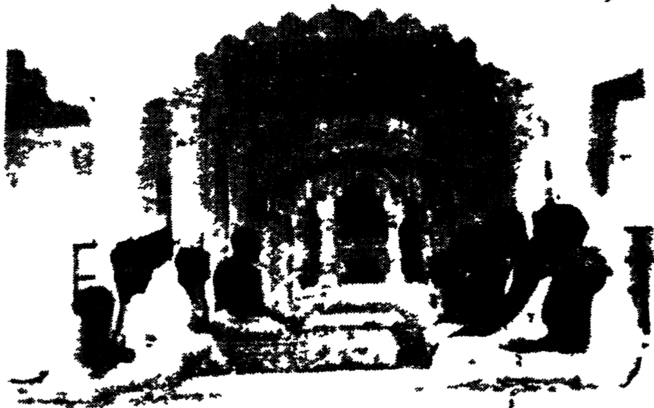
जो ग्यारह प्रतिमाओं को पालते हैं, पंचाणुव्रतों का पूर्णरूप से साधन करते हैं, सम्यक्त्व की उपासना में प्रति समय तल्लीन रहते हैं और आत्मा की अर्चना करने में ही अपने त्रियोग का उपयोग करते हैं, वही उत्तम और समीचीन पद के धारी उत्कृष्ट श्रावक हैं, जिन्हें क्षुल्लक या ऐलक कहा जाता है।







['ब्रह्मचारी-निवास' निसई जी]



[पूज्य श्री ब्र० महाराज सेमरखेड़ी जी में सामायिक करते हुए]





मुक्तिमार्ग के पथिक, तपोपूत

मुनि या साधुओं के कर्तव्य

पंचम खण्ड

मुक्तिमार्ग के पथिक

तपोपूत

मुनि या साधुओं के कर्तव्य

[४४५ से ४६० तक]



"मन के समस्त विरोधों का नाश करके जो निर्दुःख और निस्तृष्ण होकर रहता है, उसे ही मैं मुनि कहता हूँ। ....अखिल लोक में अध्यात्म-विषयक तथा साधुओं और असाधुओं का धर्म जानकर जो आसक्ति के उस पार चला गया है, उसे मुनि कहते हैं। उसकी पूजा मनुष्य क्या देवता भी करते हैं।"

—महात्मा बुद्ध ।

मुक्तिमार्ग के पथिक, तपोपूत



मुनि या साधुओं के कर्तव्य



त्रेपन क्रियाएं व तेरह विध चारित्र का पालन



साधुवो साधु लोकेन, रयनत्तयं च संजुतं ।
ध्यानं ति अर्थ सुद्धं च, अवधं तेन दिस्टते ।।४४५।।

साधु लोक में करते हैं नित, रत्नत्रय का ही साधन ।
रत्नत्रयमय ध्यान उदधि में, करते नित वे अवगाहन ।।
परिग्रहों से आरंभों से, नेह नहीं वे करते हैं ।
नील गगन में पंछी नाईं, वे निर्मुक्त विचरते हैं ।।

साधु निशिवासर रत्नत्रय की साधना में ही चूर रहा करते हैं; उनका ध्यान भी आत्मभावना और रत्नत्रय से ही पूर्ण रहा करता है । न तो वे किसी आरंभ परिग्रह आदिक बंधनों से बंधे हुए होते हैं और न संसार की कोई शक्ति ही उन्हें बांधकर अपने मन के अनुसार आचरण करा सकती है, अर्थात वे पूर्णमुक्त स्वभाव के धारी होते हैं, और अपने शुद्धाचरण का पालन करते हुए स्वाधीनता से जगत में विहार करते हैं ।

न्यानं चारित्र संपूरनं, क्रिया त्रेपन संजुतं ।
तप व्रतं च समिदि च, गुप्ति त्रय प्रति पालकं ॥४४६॥

त्रेपन क्रियायुक्त रहते हैं, सद्गुरु तारणतरण सुजान ।
जगमग करते रहते उनको, ज्ञान आचरण रत्न महान ॥
पंच महाव्रत, पंच समिति का, वे नित पालन करते हैं ।
तीन गुप्ति का पालन कर नित, आत्मध्यान वे धरते हैं ॥

साधु ज्ञान और चारित्र से पूर्ण रहा करते हैं। त्रेपन क्रिया, पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का वे पूर्णतया पालन करते हैं और इस तरह संसार के सामने सम्यक्चारित्र का अलौकिक आदर्श रखते हैं ।



मन वचन काय को रोककर योग साधना



चारित्रं चरनं सुद्धं, समय सुद्धं च उच्यते ।
संपूरनं ध्यान योगेन, साधुओ साधु लोकयं ॥४४७॥

साधु पालते हैं नितप्रति ही, शुद्ध और व्यवहार चरित्र ।
देते हैं वे शुद्ध तत्व का ही, जग को उपदेश पवित्र ॥
मन, वच, काय त्रियोग रोक वे, योगसाधना करते हैं ।
सौख्यसिन्धु शुद्धात्म-कुंज में, ध्रुव हो सतत विचरते हैं ॥

साधु महाराज शुद्ध निर्दोष व्यवहार व निश्चय चारित्र का पालन करते हैं और संसार को शुद्ध रत्नत्रय का उपदेश देते हैं और मन वचन काय इन तीनों योगों को निश्चल बनाकर आत्मसमाधि का अवर्णनीय आनन्द प्राप्त करते हैं ।

शुद्धात्मतत्व का निरूपण व चिंतवन



समिक दर्सनं न्यानं, चारित्रं सुद्ध संजमं ।
जिन रूपं सुद्ध दिव्यार्थं, साधओ साधु उच्यते ॥४४८॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आचरण का जो करते हैं उपदेश ।
मध्यलोक को संयम पालन, का जो करते हैं निर्देश ॥
आत्मद्रव्य और जिनस्वरूप को, जो नितप्रति दर्शाते हैं ।
वे ही जगतीतल में तारणतरण, साधु कहलाते हैं ॥

जो जगत को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा संयम पालन का उपदेश देते हैं तथा जिन भगवान व शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरूप झलकाते हैं, वही मोक्षपथ के साधक वीतराग साधु कहलाते हैं ।



ऊर्ध अधो मध्यं च, लोकालोकं च लोकितं ।
आत्मानं सुद्धात्मानं, महात्म्यं महाव्रतं ॥४४९॥

ऊर्ध्व, अधो और मध्य, त्रिलोकों में जो यत्र तत्र सर्वत्र ।
आत्मद्रव्य को हैं विलोकते, सिद्ध समान विशुद्ध पवित्र ॥
पंच महाव्रत का करते हैं, जो सम्यक् साधन गुणवान ।
वे ही सरल विशुद्ध आत्मा, कहलाते हैं साधु महान ॥

- जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक इन तीनों लोकों में भरी हुई आत्माओं को सिद्ध के समान विशुद्ध और पवित्र देखते हैं तथा पंच महाव्रतों की जो महान साधना करते हैं, वही महान आत्मा के धारी उत्तम साधु कहलाते हैं ।

धर्म ध्यानं च संजुत्तं, प्रकासनं धर्म सुद्धयं ।
जिन उक्तं जस्य सर्वन्यं, वचनं तस्य प्रकासए ॥४५०॥

शिव-सुख-साधन धर्मध्यान ही, नित्य साधुजन ध्याते हैं ।
मंगलकारी शुद्ध धर्म ही, वे प्रकाश में लाते हैं ॥
श्री जिनेन्द्र ने बरसाये हैं, निज मुखसे जो वचन महान ।
साधु उन्हीं से जगमग करते, इस भूतल को सूर्य समान ॥

जो आत्मस्वरूप-धर्मध्यान की आराधना करने में तल्लीन रहा करते हैं; शुद्धात्म धर्म का जो जग को उपदेश देते हैं तथा वीतराग हितोपदेशी और सर्वज्ञ प्रभु ने जिन तत्वों का कथन किया है, उन्हीं का प्रकाश जो जगत में करते हैं, वही परम हितैषी पूज्य साधु कहलाते हैं ।



मिथ्यात त्रय सल्यं च, कुन्यानं त्रय उच्यते ।
राग दोषं च येतानि, तिक्तते सुद्ध साधवा ॥४५१॥

तीन तरह के मिथ्यादर्शन, तीन तरह के मिथ्याज्ञान ।
तीन तरह की शल्य, शूल सी, देती हैं जो दुःख महान ॥
ये सारे ही दोष साधु के, पास न जाने पाते हैं ।
होते जो सत्साधु, इन्हें वे तृण से तोड़ बहाते हैं ॥

जो तीन तरह के मिथ्यात्व, तीन तरह के कुज्ञान और तीन तरह की शल्यों से बिलकुल विमुक्त हो जाते हैं और रागद्वेष व संसार में जितने भी अन्य प्रकार के दोष होते हैं, उन सबसे जो अपना हृदय रिक्त बना लेते हैं, वही शुद्ध संयमी साधु कहलाते हैं ।

अप्पं च तारनं सुद्धं, भव्य लोकैक तारकं ।
सुद्धं च लोकलोकत्वं, ध्यानारूढं च साधवा ॥४५२॥

जो होते सत्साधु विज्ञ, वे होते तारणतरण महान ।
स्वयं पार हो, पार लगाते, वे त्रिलोक को पोत समान ॥
तीन लोक में दिखता है बस, उन्हें आतमा ही अभिराम ।
धर्मध्यान में ही रहते हैं, लीन निरन्तर वे गुणधाम ॥

जो अपनी आत्मा को विशुद्ध आत्मा बनाकर, स्वयं तर जाते तथा दूसरी आत्माओं को भी अपने उपदेश से इस संसार-सागर से पार लगा देते हैं; तीन लोकों में भरे हुए द्रव्यों में जिन्हें एक आत्मा ही सारभूत पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वही सच्चे आत्मनिष्ठ साधु कहलाते हैं ।



मनं च सुद्ध भावस्य, सुद्ध तत्वं च दिस्टते ।
संमिक दर्सनं सुद्धं, सुद्धं तिअर्थ संजुतं ॥४५३॥

शुद्ध आत्मिक भावों को ही, नित्य साधुजन ध्याते हैं ।
आत्मतत्त्व को ही सम्यक् विधि, वे अनुभव में लाते हैं ॥
उनका अंतस्तल रहता है, शुचि सम्यग्दर्शन साकार ।
रत्नत्रय से जगमग करता, रहता है उनका संसार ॥

साधुगण शुद्ध आत्मिक भावों का ही मनन और नित्यप्रति उसका ही दर्शन किया करते हैं। उनका हृदय शुद्ध सम्यग्दर्शन से ओतप्रोत रहता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों की निधि उनकी आत्मा को प्रति समय प्रकाशित बनाती रहती है ।

रयनतयं सुद्ध संपूरनं, संपूरनं ध्यान संजुतं ।
रिजु विपुलं च उत्पादंते, मनपर्जय न्यानं धुवं ॥४५४॥

साधु शुद्धतम रत्नत्रय के, होते हैं गंभीर निधान ।
सम्यक् विधि धर अचल ध्यान में, रहते हैं वे मग्न सुजान ॥
इन्हें ध्यान से ऋजु विपुलों भी वे निधियाँ मिल जाती हैं ।
जो त्रिकाल प्रत्यक्ष बनाकर, केवलज्ञान जगाती हैं ॥

साधुगण रत्नत्रय के गंभीर निधान हुआ करते हैं; वे आत्मा के निश्चल ध्यान में मग्न रहा करते हैं और अपनी साधना से आत्मा में उस रिजु और विपुल मनःपर्यय ज्ञान की ज्योति जगा लेते हैं, जो केवलज्ञान को उत्पन्न कर उन्हें चराचर के ज्ञान से साक्षात्कार करा देती है ।



वैराग्य त्रिविहं सुद्धं संसारे तजंति तृनं ।
भूषन रयनत्रयं सुद्धं, ध्यानारूढ स्वात्म चिंतनं ॥४५५॥

भव, शरीर, भोगों से निस्पृह, पूज्य साधु हो जाते हैं ।
यह संसार असार ! इसे वे, तृण समान ठुकराते हैं ॥
निर्मल रत्नत्रय ही होते, उनके आभूषण, शृंगार ।
स्वात्म-रमण में ही पाते हैं, वे पुनीत आनंद अपार ॥

साधुगण संसार, शरीर और भोग इन तीन जंजालों को तोड़कर पूर्ण वैराग्यवान हो जाते हैं और इस संसार की समस्त वासनाओं को तृण के समान तोड़कर अपने पदों से ठुकरा देते हैं। रत्नत्रय की आराधना ही उनका एकमात्र भूषण होता है और वे ध्यानारूढ़ रहते हुए अपने आत्मा का ही अनुभव किया करते हैं ।

केवलं भावनं कृत्वा, पदवी अर्हन्त सार्धयं ।
चरनं सुद्ध समयं च, नंत चतुस्टय संजुतं ॥४५६॥

लौकिक सिद्धि प्राप्त करने को, साधु नहीं धरते हैं ध्यान ।
होवें कर्मविमुक्त, यही रहता उनका उद्देश्य महान ॥
केवलज्ञान मिले कब हमको, होवें हम भी कब अर्हन्त ।
बनें चतुष्टयवान किस निमिष, यही भावना करते सन्त ॥

साधुओं का आत्मरूप धर्मध्यान का आराधन और पंचमहाव्रत का पालन करना तथा तदनुसार समस्त चारित्र (आचार-विचार) प्रतिपादन करने का बस एक ही कारण होता है-वह यह कि इस संसार के आवागमन की बेड़ियों को काटकर कैवल्यपद प्राप्त करना; अर्हंत पद प्राप्त करना और प्राप्त करना चार अनन्त चतुष्टय। और इसी आत्म-अर्चा में ही वे अपने उपयोग को लगाये रहते हैं।



साधओ साधू लोकेन, तव व्रत क्रिया संजुतं ।
साधओ सुद्ध न्यानस्य, साधओ मुक्तिगामिनो ॥४५७॥

साधु सदा ही क्रियायुक्त, सम्यक् तप, व्रत आचरते हैं ।
शुद्ध ज्ञान हो प्राप्त, सदा वे यही साधना करते हैं ॥
ऐसे जो रत्नत्रयधारी, होते सद्गुरु ज्ञानी ।
वे निःसंशय सुमुखि मुक्ति को, पाते नीलपद्म-पाणी ॥

साधु महाराज क्रिया सहित तप व व्रतों का आचरण करने में सदा लवलीन रहा करते हैं। इन सबको साधन करने का उनका एक ही उद्देश्य होता है और वह केवल शुद्ध ज्ञान प्राप्ति की कामना। रत्नत्रय से पूर्ण शुद्ध भावना के धारी ऐसे जो साधु होते हैं, वे मुक्ति का अचल साम्राज्य पाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं।

अर्हंतं अरहो देवं, सर्वन्यं केवलं धुवं ।
अनंतानंत दिस्टं च, केवल दर्सन दर्सनं ॥४५८॥

इस जग में अर्हन्त देव ही, वन्दनीय हैं पूज्य महान ।
वही एक सर्वज्ञ, वही ध्रुव, वही एक कैवल्य निधान ॥
उनमें जगमग करता है जो, ज्ञान राशियों का आलोक ।
दर्पण नाईं वही प्रदर्शित, कर सकता है लोकालोक ॥

इस जगत में चार महान कार्यों के प्रतिपादक श्री अरहन्तदेव ही एक ऐसे देव हैं, जो पूर्ण देवत्व को धारण करने की क्षमता रखते हैं; सकल चराचर को जाननेवाले हैं; ज्ञान की चरम सीमा, केवलज्ञान के धारी हैं, पूर्ण स्वाधीन हैं और ध्रुव हैं। उनमें जिस व्यक्तित्व का वास है, वही और केवल वही, इस विस्तृत लोक और अलोक के पदार्थों को जानने में और उन्हें प्रकाश में लाने में पूर्ण भांति समर्थ होता है। साधु इसी अरहन्तपद को पाने का तीनों काल प्रयत्न किया करते हैं।



सिद्धं सिद्धि संजुक्तं, अस्ट गुनं च संजुतं ।
अनाहतं विक्त रूपेन, सिद्धं सास्वतं धुवं ॥४५९॥

होते हैं जो सिद्ध, आत्मा पर वे जय पा जाते हैं ।
अष्ट विशिष्ट गुणाधिगुणों के, वे अधिदेव कहाते हैं ॥
होते हैं वे व्यक्त, अनाहत, अजर अमर, ध्रुव, अविनाशी ।
साधु इसी पद को पा, बनते हैं, सिद्धालय के वासी ॥

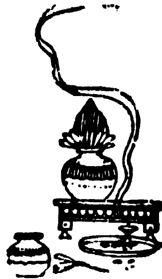
सिद्ध भगवान आठों कर्मों के विजेता होते हैं; उनके लिये संसार में कुछ भी करना शेष नहीं रहता अतः वे कृतकृत्य हो जाते हैं—सिद्ध हो जाते हैं। अष्ट कर्मों के नाश हो जाने से उनमें आत्मा के आठ अमूल्य गुण, रत्नों की राशि की भांति दैदीप्यमान हो उठते हैं। वे अव्याबाध, अविनाशी और अचल पद के धारी होते हैं। साधु भी अपनी साधना से इसी पद को पाकर सिद्धक्षेत्र के वासी बन जाते हैं।

परमिष्टी साधनं कृत्वा, सुद्ध संमिक्त धारना ।
ते नरा कर्म षिपनं च, मुक्तिगामी न संसयः ॥४६०॥

पंच परम प्रभु की शरणों में, जो ले लेते हैं विश्राम ।
सम्यग्दर्शन से शोभायुत, कर लेते जो अंतर धाम ॥
वे कर्मों की लौह-बेड़ियाँ, चूर चूर कर देते हैं ।
शिव पथ पाकर निश्चय ही वे, मुक्तिनगर पा लेते हैं ॥

जो मानव, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच विभूतियों की शरण लेता है और अपने अन्तस्तल को शुद्ध सम्यक्त भावना से ओतप्रोत बना लेता है, वह अपने कर्मों की बेड़ियों को चूर चूर कर निसंशय ही मुक्तिपद प्राप्त कर लेता है ।





आगम की वन्दना

त्रिविध ग्रंथं प्रोक्तं च, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ।
धर्मार्थ काम मोष्यं च, प्राप्तं परमेष्टी नमः ॥४६१॥

आगम के हैं तीन भेद, यह कहते सिद्धालय वासी ।
शब्द, अर्थ, विज्ञान रूप जो तीनों हैं ध्रुव अविनाशी ॥
धर्म, अर्थ और काम मोक्ष के, ये आगम ही हैं साधन ।
ये ही परमेष्ठी-पद-दाता, इनको शतशत अभिवादन ॥

श्री सर्वज्ञ प्रभु ने आगम को तीन भागों में विभक्त किया है (१) शब्द (२) अर्थ (३) ज्ञान । ये आगम धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि कराने वाले और परमेष्ठी पद को प्राप्त करने वाले होते हैं, अत: उनको सविनय नमस्कार हो ।



परमानंद आनंद, जिन उक्तं सास्वतं पदं ।
एकोदेस उवदेसं च, जिन तारण मुक्ति पथं श्रुतं ॥४६२॥

ज्ञान और आनन्दमयी है वीतराग प्रभु की वाणी ।
स्वरलहरी भरते हैं जिसमें, आत्मतत्त्वपद-विज्ञानी ॥
आत्मतत्त्व का चमके, वसुधा प्रांगण में उज्ज्वल तारा ।
क्रिया श्रावकाचार इसी से, मैंने यह प्रस्तुत प्यारा ॥

वीतराग प्रभु की वाणी अत्यन्त ही आनन्दमयी है, जिसमें पद पद पर आत्मतत्व के दर्शन होते हैं । वह आत्म-पद संसार को अपने प्रकाश से आलोकित करे, केवल इसी ध्येय से मैंने यह पुण्य ग्रन्थ प्रस्तुत किया है ।

सम्यक् आचार : सम्यक् विचार



सम्यक् विचार

श्री तारणस्वामी—

सम्यक् विचार

प्रथम धारा (पण्डित पूजा)

ओम्

ओंकारस्य ऊर्ध्वस्य, ऊर्ध्व सद्भाव शाश्वतं ।
विन्दस्थानेन तिष्ठंते, ज्ञानेन शाश्वतं ध्रुवं ॥१॥

ओम् रहा है और रहेगा, सतत उच्च सद्भावागार ।
परमब्रह्म, आनन्द ओम् है, ओम् अमूर्त शून्य—आकार ॥
ओम् पंच परमेष्ठी मंडित, ओम् ऊर्ध्व गति का धारी ।
केवल-ज्ञान-निकुंज ओम् है, ओम् अमर ध्रुव अधिकारी ॥

ओम् सनातनकाल से ऊर्ध्वगति का धारी रहा है, और रहेगा। ऊर्ध्व स्वामी तो यह है ही, किन्तु साथ ही साथ सद्भावों का धारी और शाश्वत भी है ।

इसमें शून्य को एक प्रमुख स्थान दिया गया है, और शून्य में इसका निवास भी है, जिसका तात्पर्य यह है कि यह मुक्त है, स्वाधीन है ।

इसका वास व्यवहार दृष्टि से तो मोक्ष-स्थान में कहा जाता है जहाँ पहुँचने पर इसकी संसार-यात्रा समाप्त हो जाती है और फिर वहाँ से लौटकर नहीं आता, किन्तु वस्तुस्वरूप अथवा निश्चय दृष्टि से उसका अपना निवास तो अपने आपमें ही रहता है । भले ही वह आज हमारे इस शरीर में है और कल (अगले जन्म में) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता पाकर मोक्ष-धाम में जा विराजे।

यही तो वह सिद्धांत है कि—"आत्मपरमात्मतुल्यं च विकल्प चित्त न क्रीयते" तथा ज्ञानों में सबसे श्रेष्ठ जो केवलज्ञान है उस ज्ञान से यह ओम् पद मंडित है और ध्रुव तारा के समान चमक कर संसार को अनादिकाल से सन्मार्ग बता रहा है और बताता भी रहेगा। हाँ, उसके बताए हुये मार्ग पर चलना न चलना हमारी इच्छा पर निर्भर है। चलेंगे तो संसार पार हो जायेंगे अन्यथा अनादिकाल से संसार में भटक रहे हैं और अनन्तकाल तक भटकते रहेंगे।

सम्यक् विचार

"महावीर की विचारधारा व्यक्तिमूलक थी। भारतीय संस्कृति में भी विचारों की एकता की अपेक्षा उनके समन्वय का अधिक महत्व रहा है, विचारों के समन्वय को ही स्याद्वाद कहते हैं। सत्य को समग्ररूप से जानने के लिए जब हम उसे कई दृष्टियों से देखते हैं तो ज्ञान में नम्रता आती है और मन से दूसरे के विचारों के प्रति आस्था जगती है। संक्षेप में उनके कथन के अनुसार समाज-रचना का आधारभूत तत्त्व योग्यता है, जन्म नहीं; व्यक्ति का आदर्श अकिंचनता है, संचय नहीं; और लोकसेवा की कसौटी विचारों का समन्वय है, एकता नहीं।"

"भारतीय संस्कृति उस महानदी के समान है जिसमें नाना विचार-प्रवाह मिलते हैं और जिससे निकलते भी हैं, पर जो लोक में हमेशा बहती रहती है, उसके तट पर कई तीर्थ बने और मिटे। तीर्थङ्कर महावीर ने भी लगभग ढाई हजार वर्ष पहले एक सर्वोदय तीर्थ की रचना की थी, भले ही वह आज समय के प्रवाह में बिखरी प्रतीत हो, पर उसके निर्माण की कला अमिट है, और कोई चाहे तो नये तीर्थ के निर्माण में उसका उपयोग कर सकता है। उनकी यह कला थी कि लोक की उपासना के लिए लोक की वासना छोड़ दो, साधना द्वारा अपने आपको इतना तरल बनाओ कि लोक में घुलमिल सको, युग की आस्तिकता के अनुसार समन्वय-दृष्टि से ऐसे आदर्श चुनो और उन्हें जीवन में ढालो कि तुम्हारा जीवन भावी समाज की जीवनपद्धति का आधार बन जाए।

निश्चयनय जानंते, शुद्ध तत्त्व विधीयते ।
ममात्मा गुणं शुद्धं, नमस्कारं शाश्वतं ध्रुवं ॥२॥

जिन्हें वस्तु के सत् चित् ज्ञायक, या निश्चयनय का है ज्ञान ।
वही अनुभवी पारखि करते, निज स्वरूप की सत् पहिचान ॥
अन्तस्तल-आसीन आत्मा, ही है अपना देव ललाम ।
आत्मद्रव्य का अनुभव करना, ही है सच्चा अचल प्रणाम ॥

जो पुरुष निश्चय नय और केवल निश्चय नय को ही वस्तु को परखने की कसौटी मानते हैं, केवल वही इस संसार में सत् और असत् की वास्तविक परीक्षा कर सकते हैं, और केवल वही शुद्धात्मा के गुणों को परख सकने में समर्थ हो पाते हैं। उन जैसे समर्थवान पुरुषों को ही सम्यग्दृष्टि पुरुष कहा जाता है ।

अपने अंतस्तल में जो आत्मदेव विराजमान है वही निश्चयनय से वह देव है जिसे जिनवाणी हितोपदेशी, वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षप्रदायक के नाम से संबोधन करती है। ऐसे शुद्धात्मा रूपी जगत-प्रभू को मैं ध्रुव एवं शाश्वत मानकर दृढ़ निश्चयपूर्वक (अचल भाव से) नमस्कार करता हूँ।



ॐ नमः विंदते योगी, सिद्धं भवत् शाश्वतं ।
पंडितो सोपि जानंते, देवपूजा विधीयते ॥३॥

योगीजन नित ओम् नमः का, शुद्ध ध्यान ही धरते हैं ।
'सोऽहं' पद पर चढ़कर ही वे, प्राप्त सिद्ध-पद करते हैं ॥
'ओम् नमः' जपते जपते जो, निज स्वरूप में रम जाता ।
वही देवपूजा करता है, पंडित वह ही कहलाता ॥

जो वास्तविक योगी-मुनि होते हैं वे नित प्रति "ॐ नमः" का ही पारायण किया करते हैं और इसी मंत्र के पारायण-पोत पर चढ़कर वे भवसागर से पार होकर सिद्ध और शाश्वत पद प्राप्त कर लेते हैं ।

जो 'ओम् नमः' का मनन करते ही निजस्वरूप में लवलीन हो जाता है वही उसकी सच्ची देवपूजा करता है और वही सच्चा पंडित है, ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है ।

हींकारं ज्ञान उत्पन्नं, ओंकारं च वंदते ।
अरहं सर्वज्ञ उक्तं च, अचक्षु दर्शन दृष्टते ॥४॥

जगतपूज्य अरहन्त जिनेश्वर, जिसका देते नव उपदेश ।
साम्य दृष्टि सर्वज्ञ सुनाते, जिसका घर घर में सन्देश ॥
जो अचक्षु-दर्शन-चख गोचर, जो चित चमत्कार सम्पन्न ।
ओंकार की शुद्ध वंदना, करती वही ज्ञान उत्पन्न ॥

जिसका अरहंत प्रभु उपदेश देते हैं और जिस सन्देश को वे ही सर्वज्ञ भगवान प्रत्येक प्राणी तक पहुँचाते हैं, उस ओम् महापद की या अपनी शुद्धात्मा की वह वन्दना उसके अपने अन्तरंग में उस विशुद्ध ज्ञान की सृष्टि सृजन कर देती है जो कल्पनातीत होता है। और केवल उसकी अपनी आत्मा ही जिसका रसास्वादन करती है तथा उसके चमत्कार को उसके ज्ञान-नेत्र ही देखते हैं।



मति श्रुतश्च संपूर्णं, ज्ञानं पंचमयं ध्रुवं ।
पंडितो सोपि जानंते, ज्ञानं शास्त्र स पूजते ॥५॥

मति,श्रुत, अवधि, मनःपर्यय से, ज्ञान करें जिसमें कल्लोल ।
पंच ज्ञान केवल भी जिसमें, छोड़ रहा नित ज्योति अलोल ॥
ऐसे आत्म-शास्त्र को ही नित, जो पूजे विवेक-शिरमौर ।
वही सत्य पंडित प्रज्ञाधर, वही ज्ञान-धन का है ठौर ॥

जिसमें मति, श्रुत, अवधि,मन:पर्यय और यहां तक कि केवलज्ञान भी अपने प्रकाश-पुंज बिखरा रहा है, अथवा जो पांचों ज्ञान का एक मात्र निधान है ऐसे आत्मा रूपी शास्त्र की ही जो विज्ञजन पूजा करते हैं, वे ही वास्तव में पंडित हैं और प्रज्ञा उन्हीं में ठौर पाकर अपने जीवन को कृतकृत्य मानती है।

ॐ ह्रीं श्रियंकारं, दर्शनं च ज्ञानं ध्रुवं ।
देवं गुरुं श्रुतं चरणं, धर्मं सद्भावशाश्वतं ॥६॥

ह्रीं श्रीं के रूप मनोहर, करते जिसमें विमल प्रकाश ।
अमर ज्ञान दर्शन का है जो, एक मात्रतम दिव्य निवास ॥
वहा परम उत्कृष्ट ओम् ही, है त्रिभुवन मंडल में सार ।
वही देव, गुरु, शास्त्र, आचरण, वही धर्म सद्भावागार ॥

जिसमें 'ॐ ह्रीं श्रीं' इस मंत्र का पूर्णरूपेण निवास है, दर्शन, ज्ञान और आचरण का जो मन्दिर है, वास्तव में ऐसा वह ओम् ही सच्चा देव है, ओम् ही सच्चा गुरु है, ओम् ही सच्चा क्रियायुक्त आचरण है और ऐसा वह ओम् ही तीन लोक को पार करने वाला सच्चा धर्म है जिसका कि घट घट में सद्भाव है ।



वीर्यं अँकूरणं शुद्धं, त्रैलोकं लोकितं ध्रुवं ।
रत्नत्रयं मयं शुद्धं, पंडितो गुण पूजते ॥७॥

केवलज्ञान-मुकुर में जिसको, तीनों लोक दिखाते हैं ।
जिसके स्वाभाविक बल जल का, निधिदल थाह न पाते हैं ॥
रत्नत्रय की सुरसरिता से, शुद्ध हुआ जो द्रव्य महान् ।
उसी आत्म रूपी सद्गुरु की, करते हैं पूजन विद्वान ॥

जिसको अपने केवलज्ञान मुकुर में संसार के सब पदार्थ युगपत दृष्टिगोचर होते हैं; जिसकी शक्ति कल्पना से परे है, अनंत है, असीम है, तथा रत्नत्रय की पवित्र निर्झरिणी जिसके चरण अहर्निश पखारती रहती है: विद्वान् केवल ऐसे आत्मा रूपी सद्गुरु की ही अर्चना करते हैं और ओम् या आत्मा रूपी सद्गुरु को पूजने वाला पंडित ही वास्तविक प्रज्ञाधारी पंडित कहा जाता है–माना जाता है ।

देवं गुरुं श्रुतं वंदे, धर्मशुद्धं च विंदते ।
तिअर्थ अर्थलोकं च, स्नानं च शुद्धं जलं ॥८॥

आतम ही है देव निरंजन, आतम ही सद्गुरु भाई ।
आतम शास्त्र, धर्म आतम ही, तीर्थ आत्म ही सुखदाई ॥
आत्म-मनन ही है रत्नत्रय-पूरित अवगाहन सुखधाम ।
ऐसे देव, शास्त्र, सद्गुरुवर, धर्मतीर्थ को सतत प्रणाम ॥

आत्मा ही सच्चा देव है; आत्मा ही सच्चा गुरु है; आत्मा ही सच्चा शास्त्र है; आत्मा ही सच्चा धर्म है और आत्मा ही सच्चा तीर्थ है। और यदि वास्तव में पूछा जाय तो रत्नत्रय से पूरित इस आत्मा का मनन ही एक मात्र सच्चा स्नान है।

ऐसे आत्मा रूपी देव, गुरु, शास्त्र, धर्म और तीर्थ को मैं नित्य मन वचन काय से प्रणाम करता हूँ।



चेतना लक्षणो धर्मो, चेतियंति सदा बुधै ।
ध्यानस्य जलं शुद्धं, ज्ञानं स्नान पंडितः ॥९॥

चिदानन्द ध्रुव शुद्ध आत्मा, की चेतनता है पहिचान ।
बुद्धिमान जन नित्य निरन्तर, धरते हैं उसही का ध्यान ॥
नदी सरोवर में करते हैं, अवगाहन जड़ अज्ञानी ।
आत्म-ज्ञान-जल से प्रक्षालन, करते सत्पंडित ज्ञानी ॥

आत्मा का लक्षण चेतना से संयुक्त है और इसी चेतना के नाते, बुद्धि के धनी बुद्धिमान जन उसका अहर्निश मनन करते हैं।

नदी, सरोवर और कुण्डों में तो (धर्मभाव से) केवल स्थूल-बुद्धि के मानव स्नान करते हैं, किन्तु जो प्रज्ञाधारी पंडित होते हैं, वे आत्म-मनन के जलाशय में ही स्नान करके अपने को पूर्ण पवित्र और कृत्यकृत्य मानते हैं।

शुद्धतत्वं च वेदंते, त्रिभुवनम् ज्ञानेश्वरं ।
ज्ञानं मयं जलं शुद्धं, स्नानं ज्ञानं पंडितः ॥१०॥

हस्तमलकवत् जिसको तीनों भुवन चराचर प्राणी हैं ।
उसी ब्रह्म को ध्याते हैं बस, जो बुधजन विज्ञानी हैं ॥
शुद्ध आत्म है स्वच्छ सरोवर, कल कल करता जिसमें ज्ञान ।
इसी ज्ञानरूपी जल में नित, पंडित जन करते (हैं) स्नान ॥

जो अपने असीम ज्ञान से समस्त चराचर प्राणियों के घट घट की और तीनों लोक की समस्त बातों को हाथ में रखे हुये आँवले के समान देखता और जानता है, वही ज्ञान का ईश्वर ओम् या शुद्धात्मा विद्वानों के पूजन का एक मात्र आधार होता है ।

विद्वज्जन लोक की देखादेखी नदी, नालाबों में स्नान करके अपने को धार्मिक या पवित्र नहीं मानते, किन्तु ज्ञानपूर्ण जलाशय एक मात्र शुद्धात्मा में ही स्नान कर उनकी अपनी आत्मा विशुद्धता को प्राप्त होती है, ऐसा उनका अपना विश्वास रहता है ।



सम्यक्तस्य जलं शुद्धं, संपूर्णं सर पूरितं ।
स्नानं पिवत गणधरनं, ज्ञानं सरनंतं ध्रुवं ॥११॥

सम्यग्दर्शन रूपी जिसमें, भरा हुआ है नीर अगम्य ।
ऐसा है वह परम ब्रह्म का, भव्यो! सरवर अविचल रम्य ॥
महा मुनीश्वर श्री गणधर जी, जिनकी शरण अनेकों ज्ञान ।
इस सर में ही अवगाहन कर, करते इसका ही जलपान ॥

जिनकी शरण में अनेकों ज्ञान ठौर पा रहे थे, वे गणधर प्रभु भी नदी सरोवर के जल से ही अपने को पवित्र हुआ नहीं मानते थे, किन्तु वे भी उसी जलाशय का उपभोग करते थे, जिसमें रत्नत्रय रूपी अगम्य नीर भरा हुआ है और जो मुमुक्षुओं के संसार में 'शुद्धात्मा' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जो अपने ही पास है ।

शुद्धात्मा चेतनाभावं, शुद्ध दृष्टि समं ध्रुवं ।
शुद्धभाव स्थिरीभूत्वा, ज्ञानं स्नान पंडितः ॥१२॥

शुद्ध आत्मा है हे भव्यो ! सत् चैतन्य भाव का पुंज ।
सम्यग्दर्शन से आभूषित, मोक्ष प्रदाता, ज्ञान-निकुंज ॥
निश्चल मन से इसी तत्व को, शुद्ध गुणों का करना ध्यान ।
पंडित वृन्दों का बस यह ही, प्रक्षालन है सत्य महान् ॥

शुद्धात्मा, चेतना से संयुक्त प्रकाश का एक विशाल और अलौकिक पुंज है, सम्यक्त्व इसका प्रधान आभूषण है और अनश्वरता इसका वह गुण है जिसके कारण संसार में यह अपना सर्वोच्च स्थान रखता है व इसके समान यह गुण दूसरे किसी में नहीं पाया जाता । इस शुद्धात्मा में स्थिर होकर इसके ज्ञान-गुणों का चिंतवन करना ही पंडितों का एकमात्र वास्तविक प्रक्षालन है ।



प्रक्षालितं त्रति मिथ्यात्वं, शल्यं त्रियं निकंदनं ।
कुज्ञान राग दोषं च, प्रक्षालितं अशुभभावना ॥१३॥

धुल जाते इस ज्ञान-नीर से, तीनों ही मिथ्यात्व समूल ।
तीनों शल्यों को विनिष्ट कर, ज्ञान बना देता यह धूल ॥
अशुभ भावनाएं भी सारी, इस जल से धुल जाती हैं ।
राग द्वेष, कुज्ञान–कालिमा, पास न रहने पाती हैं ॥

शुद्धात्मा के इस सरोवर में स्नान करने से तीनों मिथ्यात्व समूल नष्ट हो जाते हैं; हृदय में दिन रात चुभने वाली तीनों शल्यें इसके जलस्पर्श से ततकाल निकल जाती हैं और कुज्ञान राग द्वेष और अशुभ भावनायें तो फिर इसमें स्नान करने वाले विद्वान के साथ रहने ही नहीं पातीं; शरीर मल के समान वे भी उसकी आत्मा से एक साथ ही खिर जाती हैं, पृथक् हो जाती हैं ।

कषायं चत्रु अनंतानं, पुण्य पाप प्रक्षालितं ।
प्रक्षालितं कर्म दुष्टं च, ज्ञानं स्नान पंडितः ॥१४॥

पुण्य पाप दोनों रिपुओं को, क्षय कर देता है यह नीर ।
मलिन कषायें छिप जाती हैं, देख रश्मि से इसके तीर ॥
कर्म-नृपति की सेना को भी, कर देता यह जल-भट चूर्ण ।
ऐसा है यह ज्ञान-उदक का, अवगाहन मंगल-परिपूर्ण ॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार अनन्तानुबन्धी कषायें भी फिर उसके साथ नहीं रह पातीं हैं जो इस आत्म-सरोवर में स्नान करता है, पुण्य पाप भी दोनों इसके जल से प्रक्षालित हो जाते हैं और अष्टकर्म की सेना तो इसके ज्ञान-नीर को देखते ही पलायमान होने लगती है । ऐसे इस आत्म-सरोवर में विद्वज्जन स्नान करते हैं । वास्तव में वे ही सच्चे पण्डितजन हैं ।



प्रक्षालितं मनश्चपलं, त्रविधि कर्म प्रक्षालिते ।
पंडितो वस्त्र संयुक्तं, आभरनं भूषण क्रियते ॥१५॥

चंचल मन भी ज्ञान-नीर से, प्रक्षालित हो जाता है ।
द्रव्य, भाव, नोकर्म-यूथ भी, वहां न फिर दिख पाता है ॥
सम्यक् विधि से परम ब्रह्म को, जब उज्वल कर देता नीर ।
तब ज्ञानी जन धारण करते, हैं अपने आभूषण चीर ॥

जो मर्कट के समान चंचल है ऐसा वह मन भी इस आत्म-सरोवर के जल में स्नान करने से एकदम शांत हो जाता है। तीन प्रकार के कर्म—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इस जल से शनैः शनैः धुलते जाते हैं, और वह स्नान करने वाला पंडित निर्विकार स्थिति में पहुँच जाता है और उसके ज्ञान-दर्शनादि रूप जो अन्तरंग वस्त्राभूषण हैं उनसे वह शोभायमान हो जाता है, जिसके सामने बाह्य बहुमूल्य वस्त्राभूषणों की कोई कीमत नहीं ।

वस्त्रं च धर्म सद्भावं, आभरणं रत्नत्रयं ।
मुद्रका मम मुद्रस्य, मुकुटं ज्ञानमयं ध्रुवं ॥१६॥

शुद्ध आत्म-सद्भाव-धर्म ही, है पंडित का उज्वल चीर ।
झिलमिल करता रत्नत्रय ही, है उसका भूषण गंभीर ॥
समताभावमयी मुद्रा ही, है उसकी मुद्रिका अनूप ।
अविनाशी, शिव, सत्यज्ञान है, उसका ध्रुव किरीट चिद्रूप ॥

आत्म-सरोवर में रमण करने वाले विद्वान स्नान करने के बाद जिन आभरणों से अपनी देह सजाते हैं उनमें वस्त्र और आभूषण ये दो ही मुख्य सामग्री होती हैं। वस्त्र तो होता है उनका सद्भावरूपी धर्म, और आभूषणों में मुद्रिका होती है उनकी समता तथा मुकुट होता है उनका आत्मज्ञान। जो आत्म-ज्ञान सत्यं शिवं सुन्दरम् से युक्त होने से इन्द्र तथा चक्रवर्ती के मुकुटों को भी फीका कर देता है।



दृष्टतं शुद्ध दृष्टीं च, मिथ्यादृष्टि च त्यक्तयं ।
असत्यं अनृतं न दृष्टन्तं, अचेत दृष्टिं न दीयते ॥१७॥

जो ज्ञानी-जन करते रहते, ज्ञान-नीर से अवगाहन ।
परमब्रह्म उनका दर्पण-वत, होजाता निर्मल पावन ॥
मिथ्यादर्शन को क्षय कर वे, शुद्ध दृष्टि हो जाते हैं ।
असत, अचेतन, अनृतदृष्टि से, फिर न दुःख वे पाते हैं ॥

जो ज्ञानीजन इस आत्म-सरोवर के नीर में अवगाहन करते रहते हैं, उनका अन्तरंग दर्पण के समान पवित्र हो जाता है। मिथ्यादर्शन को क्षय करके फिर वे शुद्ध दृष्टि हो जाते हैं और उनकी दृष्टि फिर असत्य, अनृत या अचेत की मान्यता की ओर भूलकर भी नहीं जाती। और उनकी शुद्ध दृष्टि में एकमात्र शुद्धात्मा ही झलकती है तथा उसी का वे मनन, ध्यान व चिंतवन करते हैं।

दृष्टतं शुद्ध समयं च, सम्यक्त्वं शुद्धं ध्रुवं ।
ज्ञानं मयं च संपूर्ण, ममलदृष्टि सदा बुधैः ॥१८॥

ज्ञान–नीर के अवगाहन में, असत् भाव मिट जाता है ।
परम शुद्ध सम्यक्त्व मात्र ही, फिर हिय में दिख पाता है ॥
शुद्ध बुद्ध ही दिखते हैं फिर, आंखों में प्रत्येक घड़ी ।
दिखता है बस यही ज्ञान की, अन्तर में मच रही झड़ी ॥

ज्ञान नीर में स्नान करने से मिथ्यात्वभाव समूल नष्ट हो जाता है और फिर जहां तहां ज्ञानी को सम्यक्त्व की ही झांकियां दिखलाई पड़ती हैं। उसकी दृष्टि जहां जाती है वहां उसे फिर शुद्धात्मा की ही छवि के दर्शन होते हैं, जिस झांकी की झलक के सामने अब उसे कृत्रिम झांकियों के प्रति प्रेम अथवा मान्यता नहीं रह जाती और उसे आठों पहर ऐसा मालूम पड़ता है मानों अन्तर में ज्ञान की झड़ी लगरही है।



लोकमूढं न दृष्टंते, देव पाखंड न दृष्टते ।
अनायतन मद अष्टं च, शंकादि अष्ट न दृष्टते ॥१९॥

ज्ञान–नीर से मिट जाता है, तीन मूढ़ताओं का ताप ।
अष्ट मदों का मन–मन्दिर में, फिर न शेष रहता सन्ताप ॥
छह अनायतन डरते हैं फिर, नहीं हृदय में आते हैं ।
अष्ट दोष भी तस्कर नाईं, देख इसे छिप जाते हैं ॥

ज्ञानरूपी जल में स्नान करने से देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता, इन तीनों का नाश हो जाता है। अज्ञानपूर्वक किये हुये ६ कर्मों में सुधार की लहर पैदा हो जाती है, आठों मद विला जाते हैं और शंकादिक अष्ट दोषों के भी पंख लग जाते हैं। तात्पर्य यह कि आत्म–सरोवर में स्नान करने से हृदय में प्रगाढ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है ।

दृष्टतं शुद्ध पदं सार्धं, दर्शन मल विमुक्तयं।
ज्ञानं मयं शुद्ध सम्यक्त्वं, पंडितो दृष्टि सदा बुधैः ॥२०॥

सप्त तत्व का जो निदान है, अगम, अगोचर, मनभावन।
उसी 'ओम्' से मंडित दिखता, बुधजन को चेतन पावन ॥
आत्म-देश में जहां कहीं भी, जाते उसके मन-लोचन।
उन्हें, वहीं दिखता है निर्मल, सम्यग्दर्शन दुख-मोचन ॥

जो मनुष्य ज्ञान-नीर में निमग्न रहा करता है, स्नान करता रहता है उसकी दृष्टि जहां तहां शुद्धात्मा या ओम् के ही दर्शन करती रहती है। आत्मा के प्रदेशों में उसे सम्यक्त्व-सम्यक्त्वकी ही लहरें दिखाई देती हैं और वे लहरें पवित्र पवित्रतम जैसे जल की चमकती हुई: उनमें रंचमात्र भी कोई विकार नहीं। उन पवित्रतम लहरों में उसे अपनी आत्मा का दर्शन ठीक परमात्मा के जैसा होता है, जिससे उसकी यह तलाश समाप्त हो जाती है कि भगवान का दर्शन कहां मिलेगा! ठीक ही है, जिसे अपने आपमें ही मिल गया, उसे फिर बाहर में तलाश क्यों?

★

वेदका अग्रस्थिरश्चैव, वेदतं निरग्रंथं ध्रुवं।
त्रैलोक्यं समयं शुद्धं, वेद वेदंति पंडितः ॥२१॥

जो पंडित कहलाता है या, होता जो वेदान्त-प्रवीण।
अग्र ज्ञान को कर उसमें वह, सतत रहा करता तल्लीन ॥
तीन लोक का ज्ञायक है जो, ग्रन्थहीन, ध्रुव अविनाशी।
उसी आत्म का अनुभव करता, नितप्रति ज्ञान-नगर-वासी ॥

ज्ञान नगर निवासी पंडित अपने हृदय मन्दिर की वेदी में विराजमान निग्रन्थ, ध्रुव, वीतराग स्वभावी अपनी आत्मा को जो कि पंचज्ञान का निधान है उसे ही वीतराग सर्वज्ञ की समकक्ष अपनी निश्चय दृष्टि में अवलोकन करता है, वेद का जो अग्र-सार उसे भी वह उसी में पाता है, अतः एकमात्र उसकी तन्मयता ही उसे प्रिय लगती है।

उच्चारण ऊर्ध शुद्धं च, शुद्ध तत्वं च भावना ।
पंडितो पूज आराध्यं, जिन समयं च पूजतं ॥२२॥

ऊर्ध्व-प्रणायक प्रणव मंत्र का, करना मुख से उच्चारण ।
अपने विमल हृदय-मन्दिर में, करना शुद्ध भाव धारण ॥
यही एक पंडित-पूजा है, पूज्यनीय शिव सुखदाई ।
शुद्ध आत्मा का पूजन ही, है जिन-पूजन हे भाई ॥

अपने मुख से बार बार 'ओम्' का उच्चारण करना और सदैव शुद्धात्मा की भावनाओं में लीन होना यही वास्तव में एकमात्र पंडितपूजा (पंडितों के करने योग्य पूजा) होती है, और इसी तरह की ज्ञान-पूजा ही वास्तव में वह पूजा होती है जिसको शास्त्रों में देवपूजा या जिनपूजा कही गई है। हे पंडित जनो ! ऐसी ही ज्ञान-पूजा या आत्म-पूजा करो, ऐसी ही भक्ति और आराधना करो, यह पूजा चारों संघ को उपयोगी है ।



पूजतं च जिनं उक्तं, पंडितो पूजतो सदा ।
पूजतं शुद्ध साधं च, मुक्ति गमनं च कारणं ॥२३॥

आत्मद्रव्य की पूजा करता, बन जो जिन-वच-अनुगामी ।
वही एक जग में करता है, पंडितपूजा शिवगामी ॥
शुद्ध आत्मा ही भव-जल से, तरने का बस है साधन ।
मुक्ति चाहते हो यदि तुम तो, करो इसी का आराधन ॥

श्री जिनेन्द्र के वचनों का अनुयायी बनकर जो आत्म-द्रव्य की, आत्म-गुणों की पूजा करता है, वही वास्तव में एकमात्र पंडित-पूजा है, जबकि दूसरी पूजायें पुण्य तथा पाप बंध करके संसार में ही भटकाया करती हैं। जब कि यह आत्म-पूजा या आत्म-अर्चना ज्ञानी को, विवेकवान पूजक को नियम से भवसागर से पार उतारकर मुक्ति-नगर में पहुँचा देती है ।

अदेवं अज्ञान मूढं च, अगुरुं अपूज्य पूजनं ।
मिथ्यात्वं सकल जानंते, पूजा संसार भाजनं ॥२४॥

'देव' किन्तु देवत्वहीन जो, वे 'अदेव' कहलाते हैं ।
वही 'अगुरु' जड़, जो गुरु बनकर, झूठा जाल बिछाते हैं ॥
ऐसे इन 'अदेव' 'अगुरों' की, पूजा है मिथ्यात्व महान् ।
जो इनकी पूजा करते वे, भव भव में फिरते अज्ञान ॥

ज्ञान-चेतना रहित और देवत्वपने से सर्वथा हीन ऐसे स्वनिर्मित अदेवों को देव मानकर पूजना तथा गुरु के समान वेष बना लेने पर भी गुरु के गुणों से कोसों दूर रहते हैं ऐसे कुगुरु या अगुरुओं को गुरु के समान मानना, पूजना केवल मिथ्यात्व ही होता है । ऐसे अदेवों और अगुरुओं की पूजा पूजक का मंगल तो नहीं करती, हाँ उन्हें संसार सागर में बार बार भटकाया ही करती है, अनन्तकाल पर्यन्त दुःखों का ही भोग कराती है ।



तेनाह पूज शुद्धं च, शुद्ध तत्व प्रकाशकं ।
पंडितो वंदना पूजा, मुक्तिगमनं न संशयः ॥२५॥

सप्त तत्व के पुंजों का नित, करता है जो प्रतिपादन ।
वही ब्रह्म है पूज्य, विज्ञगण ! करो उसी का आराधन ॥
अगुरु, अदेवादिक की पूजा, आवागमन बढ़ाती है ।
आत्म-अर्चना, आत्म-वंदना, मुक्ति-नगर पहुँचाती है ॥

जो सप्त तत्वों के पुंजों का नित्यप्रति प्रतिपादन करता है, उन्हें प्रकाश में लाता है, हे विज्ञजन ! तुम उसी शुद्धात्मा का आराधन करो । अगुरु, अदेवों की पूजा केवल संसार को ही बढ़ाती है, किन्तु आत्म-अर्चना और आत्म-वन्दना इस संसार सागर को सुखाकर मोक्ष नगर के मार्ग को स्पष्ट कर देती है ।

प्रति इन्द्र प्रति पूर्णस्य, शुद्धात्मा शुद्ध भावना ।
शुद्धार्थं शुद्ध समयं च, प्रति इन्द्रं शुद्ध दृष्टितं ॥२६॥

इन्द्र कौन ? निज चेतन ही तो, सत्य इन्द्र भव्यो स्वयमेव ।
वही एक है शुद्ध भावना, वही परम देवों का देव ॥
वही ब्रह्म, शुचि शुद्ध अर्थ है, वही समय निर्मल, पावन ।
उसी शुद्ध चिद्रूप देव का, करो चिंतवन मनभावन ॥

भगवान की पूजा इन्द्रों ने की थी अथवा नहीं की थी यह तो भगवान ही जानें, किन्तु तुम्हारी शुद्धात्मा का स्वरूप भी परमब्रह्म परमेश्वर के समान है व ज्ञानघन की ठौर है, ऐसे चिद्रूप देव शुद्धात्मा का जिसका कि दूसरा नाम इन्द्र है उस अपने इन्द्रस्वरूप आत्मा की तुम स्वयं इन्द्र के समान अत्यन्त उल्लास के साथ पूजन करो, क्योंकि यही पूजा तुम्हारा मंगल करने की क्षमता रखती है, दूसरी नहीं ।



दाताऽरु दान शुद्धं च, पूजा आचरण संयुतं ।
शुद्धसम्यक्त्वहृदयं यस्य, स्थिरं शुद्ध भावना ॥२७॥

जिस जन के हृदयस्थल में है, सम्यग्दर्शन रत्न महान ।
अपने ही में आप लीन जो, जिसे न सपने में पर ध्यान ॥
आत्म द्रव्य का पूजन करता, कर जो नव आदर सत्कार ।
परमब्रह्म को वही ज्ञान का, देता महा दानदातार ॥

जिसके हृदय में सम्यक्त्व रत्न जगमगा रहा है और जो अपने आप में लीन रहने में ही सारे सुखों का अनुभव करता है वह जब आत्म द्रव्य का पूजन करता है तो उसकी यह पूजा एक पवित्रतम दान का रूप धारण कर लेती है और विद्वान इस पूजा को एक ज्ञानी के द्वारा आत्मा को ज्ञान का दान दिया जाना ही कह कर के पुकारते हैं । इस ज्ञान दान में चारों ही दान का समावेश मंथन करने पर तुम्हें मालूम होगा । क्योंकि आत्म-पूजन से आत्मा में ज्ञान की वृद्धि; निर्भयता की जाग्रति, अपने आप में स्थिरता, तथा आनन्दामृत का भोजन पान, इस तरह के यह चारों दान व्यवहार दान की अपेक्षा बहु-मूल्य व मंगलदायक होंगे ।

शुद्ध दृष्टी च दृष्टंते, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं ।
शुद्धतत्वं च आराध्यं, वंदना पूजा विधीयते ॥२८॥

चिदानंद के ज्ञान-गुणों के, अनुभव में होना तल्लीन ।
यही एक वन्दन है सच्चा, नहीं वन्दना और प्रवीण ॥
शुद्ध आत्म का निर्मल मन से, करना सच्चा आराधन ।
यही एक बस पूजा सच्ची, यही सत्य बस अभिवादन ॥

चिदानंद शुद्धात्मा के ज्ञान गुणों में तल्लीनता होना यही एक सच्चा वन्दना है और यही एक सच्ची पूजा। क्योंकि शुद्धात्मा का सच्चे मन से आराधन करना पंडितों ने इसे ही वास्तव में वन्दना या पूजा कही है, अथवा जिनवाणी में ऐसी वन्दना या पूजा कही है अथवा जिनवाणी में ऐसी वन्दना पूजा करने वाले को ही पंडित कहा है।

"पंडितों द्वारा की जाने वाली पंडित पूजा" केवल इसी आधार से इसका नाम 'पंडित पूजा' श्री तारन स्वामी ने रखा है।



संघस्य चत्रु संघस्य, भावना शुद्धात्मनां ।
समयसारस्य शुद्धस्य, जिनोक्तं सार्धं ध्रुवं ॥२९॥

मुनी, आर्यिका श्रावक दम्पति, भी क्यों करें इतर चर्चा ?
निजानन्द-रत होकर वे भी, करें आत्म की ही अर्चा ॥
शुद्ध आत्मा ही बस जग में, सारभूत है हे भाई !
जिन प्रभु कहते, आत्मध्यान ही, एक मात्र है सुखदाई ॥

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, याने चतुर्विध संघ का यही कर्त्तव्य है कि ये इसी शुद्धात्मा की भावनाओं को भा कर उसके ही गुणों की आराधना करें। ऐसा करने में ही सबका कल्याण होगा।

श्री जिनेन्द्र का कथन है कि—संसार में आत्मा ही केवल एक सारभूत है और प्राणीमात्र का कल्याण करने वाली एकमात्र आत्मा की आराधना व पूजा करना है।

सार्धं च सप्ततत्वानं, दर्वकाया पदार्थकं ।
चेतनाशुद्ध ध्रुवं निश्चय, उक्तं च केवलं जिनं ॥३०॥

सप्त तत्व को देखो चाहे, छह द्रव्यों का छानों कुंज ।
नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय का, चाहे सतत बिखेरो पुंज ॥
इन सब में पर जीव-तत्व ही, सार पाओगे विज्ञानी ।
आत्मतत्व ही सारभूत है, कहती यह ही जिनवाणी ॥

चाहे तुम सात तत्त्वों के पुंज को देखो, और चाहे छह द्रव्यों की राशि को बिखेरो अथवा पंचास्तिकाय और नौ पदार्थों को। इन सबमें तुम्हें सारभूत पदार्थ केवल एक आत्मा ही मिलेगा। श्री जिनवाणी का भी यही कथन है कि हे भव्यो! जो चेतना लक्षण से मंडित ध्रुव और शाश्वत आत्मा है, वास्तव में वही इस जगत में केवल एक सारभूत है, तीर्थस्वरूप कल्याणदायिनी है।



मिथ्या तिक्त त्रतियं च, कुज्ञान त्रति तिक्तयं ।
शुद्धभाव शुद्ध समयं च, सार्धं भव्य लोकयः ॥३१॥

दर्शन मोह तीन हैं भव्यो, छोड़ो उनसे अपना नेह ।
कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, कुज्ञानों, से भी हीन करो हिय-गेह ॥
निर्मल भावों से तुम निशिदिन, धरो आत्म का निश्चल ध्यान ।
आत्म-ध्यान ही भव-सागर के, तरने को है पोत महान ॥

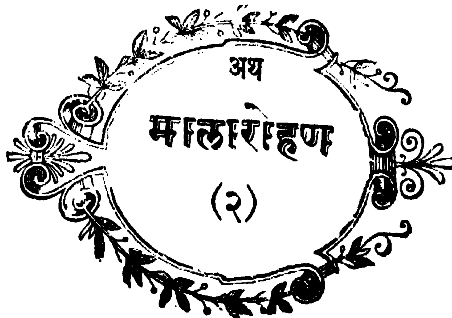
तीन प्रकार के मिथ्यात्वों को छोड़कर जो तीन प्रकार के कुज्ञान हैं, हे भव्यो! तुम उनसे भी अपना नाता तोड़ दो। तुम्हारा कल्याण इसी में है कि तुम निर्मल भावों से केवल अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान करो। क्योंकि तुम्हारी आत्म-नौका ही तुम्हें पार लगायेगी, किसी दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थ में यह शक्ति नहीं जो तुम्हें संसार समुद्र से पार कर दे।

एतत् सम्यक्त्वपूज्यस्य, पूजा पूज्य समाचरेत् ।
मुक्तिश्रियं पथं शुद्धं, व्यवहारनिश्चयशाश्वतं ॥३२॥

निर्मल कर मन वचन काय की, तीर्थ-स्वरूपिणि वैतरणी ।
करो आतम की पूजा विज्ञो, यही एक भव--जल--तरणी ॥
शुद्ध आतमा का पूजन ही, पूजनीय है सुखदाई ।
युगल नयों से सिद्ध यही है, यही एक शिव--पथ भाई ॥

अपने मन, वचन, काय की=त्रियोग-त्रिवेणी पवित्र कर, हे विज्ञो ! तुम्हें उचित है कि तुम अपने शुद्धात्मा की ही निशिदिन पूजा करो, क्योंकि व्यवहार और निश्चय दोनों ही नय इस बात को एक स्वर से पुकार पुकार कर कहते हैं कि यदि संसार में मोक्ष ले जाना कोई पंथ है तो वह केवल अपनी ही आत्मा का पूजन, अपनी ही आत्मा का मनन और अपनी ही आत्मा का मननपूर्वक अर्चन करना है ।

श्री तारन स्वामी कहते हैं कि हे भव्यो ! उपरोक्त सम्यक्त पूजा करो और तदनुसार ही आचरण करो। यही व्यवहार तथा निश्चय इन दोनों नयों से मुक्ति-पंथ का शुद्ध शाश्वत मार्ग है। ध्यान रहे, तद्-नुसार आचरण के बिना मात्र पूजा केवल पूजा का आडम्बर है ।



सम्यक्त्व-माहात्म्य

● सम्यक्त्वहीन जीव यदि पुण्य सहित भी हो तो भी ज्ञानीजन उसे पापी कहते हैं। क्योंकि पुण्य-पाप रहित स्वरूप की प्रतीति न होने से पुण्य के फल की मिठास में पुण्य का व्यय करके, स्वरूप की प्रतीति रहित होने से पाप में जायगा।

● सम्यक्त्व सहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्वहीन होकर देवलोक का निवास भी शोभास्पद नहीं होता।

● संसार रूपी अपार समुद्र से रत्नत्रय रूपी जहाज को पार करने के लिये सम्यग्दर्शन चतुर खेवटिया (नाविक) के समान है।

● जिस जीव के सम्यग्दर्शन है वह अनंत सुख पाता है और जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनंत दुःखों को भोगता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की अनेकविध महिमा है, इसलिये जो अनंत सुख चाहते हैं उन समस्त जीवों को उसे प्राप्त करने का सर्व प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

सम्यक् विचार



द्वितीय धारा (मालारोहण)



ॐकार वेदंति शुद्धात्म तत्वं, प्रणमामि नित्यं तत्वार्थ सार्धं।
ज्ञानं मयं सम्यक्दर्शनोत्थं, सम्यक्त्वचरणं चैतन्यरूपं ॥१॥

ओङ्कार रूपी वेदान्त ही है, रे तत्व निर्मल शुद्धात्मा का।
ओङ्कार रत्नत्रय की मंजूषा, ओङ्कार ही द्वार परमात्मा का॥
ओङ्कार ही सार तत्वार्थ का है, ओङ्कार चैतन्य प्रतिमाभिराम।
ओङ्कार में विश्व, ओङ्कार जग में, ओङ्कार को नित्य मेरा प्रणाम॥

विश्व के श्रेष्ठतम अनुभव एक स्वर से कह रहे हैं कि यदि शुद्धात्मा का अनुभव किया जाये तो उसमें एक ही सारभूत पदार्थ दृष्टिगोचर होगा और वह पदार्थ होगा ॐ या ओंकार का रहस्यमे पूर्ण पद।

ओंकार—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का निधान है; मोक्ष का एक मार्ग है और चेतन के वास्तविक रूप की यदि कोई प्रतिमूर्ति है तो वह भी ओंकार ही है।

संसार के समस्त पदार्थ व तत्त्वों में अग्रगण्य उस ओंकार पद को मैं मस्तक झुकाकर अभिवादन करता हूँ।

मालारोहण ग्रन्थ की इस प्रथम गाथा में जिस ओंकार का अभिवादन श्री तारण स्वामी ने किया है उस ही ओंकार के गुणों का वर्णन इस ग्रन्थ की ३२ गाथाओं में करके शिष्य समूह को यह उपदेश दिया है कि भो भव्य जीवो! तुम भी ओंकार के उन गुणों को जो कि सिद्धों में प्रत्यक्ष और तुम्हारी आत्मा में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं प्रगट करो, आरोहण करो अर्थात् ओंकारस्वरूप अपनी आत्मा के गुणरूपी माला को कंठ में पहिनो, धारण करो, जिस आत्म-गुणमाला को पहिन कर अनन्त जीवों ने सिद्धपद प्राप्त किया है।

नमामि भक्तं श्रीवीरनाथं, नंतं चतुष्टं तं व्यक्त रूवं ।
मालागुणं वोच्छं तत्वप्रबोधं, नमाम्यहं केवलि नंत सिद्धं ॥२॥

जोऽनंत चतुष्टय के निकेतन, जिनके न ढिंग अष्ट कर्मारि बसते ।
ऐसे जिनेश्वर श्री वीर प्रभु को, मेरा युगल पाणि से हो नमस्ते ॥
मैं केवली, सिद्ध, परमेष्ठियों को, भी भक्ति से आज मस्तक नवाता ।
जो सप्त तत्वों की है प्रकाशक, उस मालिका के गुण आज गाता ॥

अनंत दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनंत वीर्य के धारी तथा शुद्धात्मा के सर्वोत्तम प्रतीक, भगवान महावीर को भी मैं नमस्कार करता हूँ, तथा कर्मों की बेड़ियों को काटकर आज तक जितने भी जीव स्वाधीन होकर मुक्ति नगर को पहुँच चुके हैं उनके चरणों में भी नत मस्तक होकर हे श्रावको ! मैं तुम्हारे सामने कल्याण के लिये उस माला की या शुद्धात्मा की चर्चा करता हूँ, जो मर्मज्ञ संसार के बीच अध्यात्म या समकित माल के नाम से प्रसिद्ध है ।



कायाप्रमाणं त्वं ब्रह्मरूपं, निरंजनं चेतनलक्षणत्वं ।
भावे अनेत्वं जे ज्ञानरूपं, ते शुद्ध दृष्टी सम्यक्त्व वीर्यं ॥३॥

इस ब्रह्मरूपी निज आत्मा का, काया बराबर स्वच्छंद तन है ।
मल से विनिर्मुक्त है यह घनानंद, चैतन्य-संयुक्त तारनतरन है ॥
जो इस निरंजन शुद्धात्मा के, शंकादि तजकर बनते पुजारी ।
वे ही सफल हैं निज आत्मबल में, वे ही सुजन हैं सम्यक्त्वधारी ॥

आत्मा जिस शरीर में निवास करती है उसी प्रमाण अपना रूप धारण कर लेती है, किन्तु नश्वर के साथ अनश्वर का यह मेल अनेक भेदों से भरा हुआ है । काया जहाँ अंधकार से परिपूर्ण है वहाँ आत्मा निरंजन-प्रकाशमय है, अंधकार का उस पर कोई पर्दा नहीं, जहाँ काया अचेतन है, वहाँ आत्मा में चेतना का अविनाभावी संबंध है ।

जो ज्ञानी पुरुष इस आत्मा के शंकादि छोड़कर निश्चल पुजारी बन जाते हैं, वे ही वास्तव में अपने आत्मबल में सफल होते हैं और वे ही इस संसार में 'सम्यग्दृष्टि' नाम की संज्ञा प्राप्त करते हैं ।

संसार दुक्खं जे नर विरक्तं, ते समय शुद्धं जिन उक्त दृष्टं।
मिथ्यात्व मद मोह रागादि खंडं, ते शुद्ध दृष्टी तत्त्वार्थ सार्धं ॥४॥

श्री जैन वाणी में मुख कमल से, कहते गिरा सिद्ध परमात्मा हैं ।
संसार-दुःखों से जो परे हैं, भव्यो वही जीव शुद्धात्मा हैं ॥
मिथ्यात्व, मद, मोह, रागादिकों-से, जिनने किये हैं रिपु नाश भारी ।
वे ही सुजन हैं तत्त्वार्थ ज्ञाता, वे ही पुरुष हैं सम्यक्त्वधारी ॥

जिन्हें आत्मा की पहिचान हो जाती है, उनके पास दुःख नाम को कोई वस्तु नहीं रह जाती, अतः इस संसार में शुद्धात्मा या महात्मा केवल वही पुरुष हैं जो संसार के दुःखों से परे हो चुके हैं— जो यह नहीं जानते कि आत्मा को कलुषित करने वाला दुःख आखिर किस पदार्थ का नाम है, ऐसे महात्मा न तो फिर संसार के मिथ्या विश्वासों में फँसते हैं और न राग द्वेष या ममता मोह के जाल में ही। संसार में जो आठ प्रकार के मद कहे जाते हैं, उनको तो वे खंड खंड ही कर डालते हैं। विश्व की कल्याण करने वाली, करुणामयी जिनवाणी ऐसे ही महात्माओं को शुद्ध सम्यग्दृष्टी के नाम से पुकारती है, संबोधन करती है।



शल्यं त्रियं चित्त निरोधनेत्वं, जिन उक्त वाणी हृदि चेतनेत्वं।
मिथ्याति देवं गुरु धर्मदूरं, शुद्धं स्वरूपं तत्त्वार्थ सार्धं ॥५॥

श्री वीर प्रभु के अमृत-वचन का, जिनके हृदय में जलता दिया है।
मिथ्यादि त्रय शल्य का रोग जिनने, सम्यक्त्व-उपचार से क्षय किया है ॥
मिथ्यात्व-मय देव गुरु धर्म से जो, रहते सदा हैं परे आत्म-ध्यानी ।
वे ही पुरुष हैं शुद्धात्म-प्रतिमूर्ति, सम्यक्त्वधारी तत्त्वार्थ-ज्ञानी ॥

मिथ्या, माया, निदान इन तीन शल्यों से जिनके हृदय रहित हो जाते हैं, भगवान के वचन जिनके मन-मन्दिर में नितप्रति गूँजते हैं और जो खोटे मार्ग पर ले जाने वाले देव, गुरु और धर्म से दूर और कोसों दूर रहा करते हैं, वे ही पुरुष वास्तव में शुद्धात्मा के प्रतीक होते हैं और उनमें ही वास्तव में तत्त्वार्थ का यथार्थ सार भरा हुआ होता है।

जे मुक्ति सुक्खं नर कोपि सार्धं, सम्यक्त्व शुद्धं ते नर धरेत्वं ।
रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा स्वभावं ध्रुव शुद्ध दृष्टं ॥६॥

मैं सिद्ध हूँ, मुक्तिरमणी विहारी, है मोक्ष मेरी यही चारु काया ।
मद मोह मल पुण्य रागादिकों की, पड़ती न मुझ पर कभी भूल छाया ।
सम्यक्त्व से पूर्ण जिनके हृदय हैं, जो चाहते मोक्ष किम रोज पावें ।
वे स्वावलम्बी इसी भांति अपने, हृदयस्थ परमात्मा को रिझावें ॥

संसार बन्धनों को काटकर, जो मुक्ति के अनन्त सुख को पाने के अभिलाषी हैं, जिनके हृदय-सरोवर में सम्यक्त्व पल पल शीतल हिलोरें लिया करता है, उन्हें अपनी आत्मा को पहिचानने में तनिक भी समय नहीं लगता। वे जानते हैं कि मैं ध्रुव हूँ, शाश्वत हूँ और शुद्ध दृष्टा अनन्त ज्ञान का धारी हूँ, वह अलौकिक आत्मा हूँ जो तीन लोक को प्रकाशित करती है। और हूँ प्रकाश का वह पुंज जो सदैव अबाध गति से एक समान चमकता रहता है। राग, द्वेष, पुण्य पाप इन विकारों की कोई छाया उनकी आत्मा पर नहीं पड़ती।

ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव अपनी आत्मा का चिन्तवन ठीक इसी तरह से करते रहते हैं। उनका ऐसा आत्मचिन्तन ही उनकी आत्मा को परमात्मा बना देता है।



श्री केवलज्ञान विलोकतत्वं, शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्म तत्वं ।
सम्यक्त्व ज्ञानं चर नंत सौख्यं, तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्शनेत्वं ॥७॥

ज्ञानारसी में जिस तत्व का रे ! दिखता सतत है प्रतिबिम्ब प्यारा ।
जिसके बदन से प्रतिपल बिखरता, रहता प्रभा-पुंज शुचि शुद्ध न्यारा ॥
सम्यक्त्व की पूर्ण प्रतिमूर्ति है जो, है जो अनूपम आनन्द-राशी ।
तत्वार्थ के सार उस आत्मा को, देखो, विलोको, मोक्षाभिलाषी ॥

केवलज्ञान में जिस तत्त्व की स्पष्ट छाया दृष्टिगोचर होती है; जिसके कण-कण से प्रकाश के सैकड़ों पुंज एक साथ प्रस्फुटित होते रहते हैं तथा जो सम्यक्त्व की पूर्ण प्रतिमूर्ति है ऐसा शुद्धात्म तत्त्व ही वास्तव में सदैव मनन करने योग्य है।

सम्यक्त्व शुद्धं हृदयं ममस्तं, तस्य गुणमाला गुथतस्य वीर्यं ।
देवाधिदेवं गुरु ग्रन्थ मुक्तं, धर्मं अहिंसा क्षमा उत्तमध्यं ॥८॥

सम्यक्त्व की चारु चन्द्रावली से, सबके हृदय-हार हैं जगमगाते ।
पुण्यात्मा, वीरवर जीव ही पर, उसके गुणों को कर व्यक्त पाते ॥
जिनराज ही देव हैं ज्ञानियों के, गुरु ग्रंथ-निर्मुक्त, कल्याणकारी ।
है धर्म परमोच्च उत्तम अहिंसा, जिसमें विहँसती क्षमा शक्तिधारी ॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष का हृदय सम्यक्त्व से छलछलाता रहता है। ठीक यही हाल हम सब का भी है, क्योंकि निश्चय नय से हम भी तो सब शुद्ध आत्माएँ ही हैं, पर यह सम्यक्त्व सबके पास होते हुये भी सब अपने आपसे विशुद्ध दृष्टि से देखने में, पूर्ण होते हुए भी केवल कुछ ही आत्माएँ ऐसी होती हैं जो अपने इस सम्यक्त्व को अपनी पूर्णता को ऊपर लाने में समर्थ हो पाती हैं और इस तरह अपने आत्म-बल का दिग्दर्शन कराती हैं। अष्ट कर्मों पर जय पाने वाले अरहन्त महाप्रभु और बाईस परीषह सहन करने वाले निर्ग्रंथ साधु इस पौरुष के ज्वलन्त उदाहरण हैं। संसार की सारी शक्तियों के स्वामी होते हुए भी अहिंसा उनका धर्म है और क्षमा है उनका आभूषण।



तत्वार्थ सार्धं त्वं दर्शनत्वं, मलं विमुक्तं सम्यक्त्व शुद्धं ।
ज्ञानं गुणं चरणस्य सुद्धस्य वीर्यं, नमामि नित्यं शुद्धात्म तत्त्वं ॥९॥

तत्त्वार्थ के सार को तुम विलोको, जो शुद्ध सम्यक्त्व का बन्धु! प्याला ।
परिपूर्ण जो शुद्धतम ज्ञान से है, जो है अतुल शक्ति चारित्र वाला ।
यह सार प्यारा शुद्धात्मा है, चिर सुखसदन का अनुपम सु साधन ।
ऐसे अमोलक विज्ञानघन को, मैं नित्य करता सहस्राभिवादन ॥

जीव, अजीवादि सातों तत्त्वों के निष्कर्ष पर यदि हम विचार करें तो पता लगेगा कि जीव तत्त्व ही इन सब में अपनी प्रधानता रखता है। जीव तत्त्व, कर्मों से विमुक्त और अतुल ज्ञान गुण तथा शक्ति का भण्डार है। सम्यक्त्व के इस पुंज को मैं नमस्कार करता हूँ जो कि अपने ही प्रकाश से अपने आपके आनन्द में तन्मय है।

जे सप्त तत्वं षट दर्व युक्तं, पदार्थ काया गुण चेतनेत्वं ।
विश्वं प्रकाशं तत्वान वेदं, श्रुतदेव देवं शुद्धात्म तत्वं ।।१०।।

जो सप्त तत्त्वों को व्यक्त करता, षट द्रव्य जिसको हस्तामलक हैं ।
पंचास्तिकाया औ नौ पदारथ, जिसमें निरन्तर देते झलक हैं ।।
चैतन्यता से है जो विभूषित, त्रिभुवन-तली को जो जगमगाता ।
श्रुत-ज्ञान रूपी उस आत्म में ही, रत रह, करो आत्म-कल्याण भ्राता ।।

जो सप्त तत्त्वों को व्यक्त करता है षट् द्रव्यों से जो युक्त है, पंचास्तिकाय और नौ पदार्थ जिसमें निरन्तर अपनी झलक दिखाते रहते हैं, ऐसे विश्व को प्रकाशित करने वाले उस विज्ञान रूपी देवाधिदेव शुद्धात्म तत्त्व का तुम निरंतर ही आराधन करो, मनन व चिन्तवन करो ।



देवं गुरुं शास्त्र गुणान नेत्वं, सिद्धं गुणं सोलाकारणेत्वं ।
धर्मं गुणं दर्शन ज्ञान चरणं, मालाय गुथतं गुगमस्स्वरूपं ।।११।।

सत् देव सत् शास्त्र सत् साधुजन में, श्रद्धा करो नित्य सम्यक्त्वधारी ।
मुक्तिस्थ सिद्धों का नित मनन कर, ध्यावो परम भावनायें सुखारी ।।
शुचि, शुद्ध रत्नत्रय-मालिका से, अपने अमोलक हृदय को सजाओ ।
शिव पंथ जिन धर्म को ही समझकर, उसके निरन्तर, सतत गीत गाओ ।।

हे भव्यो ! परम हितोपदेशी, वीतराग, सर्वज्ञ देव में, निर्ग्रंथ गुरु में, तथा कल्याणकारी शास्त्रों में अपनी निष्ठा स्थिर करो, सिद्धों के गुणों का चिंतवन करो तथा अपनी अध्यात्म-मालिका में सम्यक्त्व रत्न को पिरोकर-जोड़कर, उसकी सौरभ चन्द्रमा की कलाओं के समान दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ाओ कि जिस बढ़ते हुये प्रकाश में दश धर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप रत्नत्रय आदि अनेक गुण प्रगट हो जावें, जो गुण कहीं बाहर नहीं, तुम्हारे में ही विद्यमान हैं ।

पड़माय ग्यारा तत्वान पेषं, वृत्तानि शीलं तप दान चित्तं ।
सम्यक्त्व शुद्धं न्यानं चरित्रं, सुदर्शनं शुद्ध मलं विमुक्तं ॥१२॥

एकादश स्थान में आचरण कर, कर्मारि पर जय करो प्राप्त भारी ।
पंचाणुव्रत पाल भव भव सुधारो, एकाग्र हो तप तपो तापहारी ॥
दो दान सत्पात्र–दल को चतुर्भांति, निज आत्म की ज्योति को जगमगाओ ।
पावन करो शील-सुर-वारि से गेह, सम्यक्त्व-निधि प्राप्त कर मोक्ष पाओ ॥

भव्यो ! तुम्हारा क्रमशः आत्मिक विकास हो, केवल इसके लिये ही ग्यारह प्रतिमाओं (ग्यारह प्रतिज्ञाओं) की सृष्टि हुई है । अतः तुम अपनी शक्ति के अनुसार क्रमशः एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते चले जाओ । पंचाणुव्रतों का यथाशक्ति पालन करो और शील, तप व दान में अधिक से अधिक अपनी शक्ति को लगाकर प्रयास यह करो कि तुम्हारा सम्यक्त्व पूर्ण निर्मलता को प्राप्त हो जावे । 'सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होने पर ही पहली दर्शनप्रतिमा कही गई है' तथा उसकी क्रमबद्ध निर्मलता ही प्रतिमाओं की विशेषता है ।



मूलं गुणं पालंत जीव शुद्धं, शुद्धं मयं निर्मल धारणेत्वं ।
ज्ञानं मयं शुद्ध धरंति चित्तं, ते शुद्ध दृष्टी शुद्धात्मतत्वं ॥१३॥

वसु मूलगुण को पालन किये से, रे ! जीव होता है शुद्ध, सुन्दर ।
पुण्यार्थियों को इससे उचित है, धारण करें वे यह व्रत–पुरन्दर ॥
जो ज्ञानसागर इस आचरण से, यह देव-दुर्लभ जीवन सजाते ।
वे वीर नर ही हैं शुद्ध दृष्टी, शुद्धात्म के तत्व वे ही कहाते ॥

सम्यक्त्व के अष्टमूल गुणों को पालन करने से अपना यह देह दुर्लभ जीवन शोभायमान हो जाता है, आत्मा के प्रदेशों से बंधे हुये कर्म कटने लगते हैं और उनकी अपनी आत्मा दिन प्रतिदिन शुद्धता की ओर अग्रसर होती चली जाती है, ऐसा इस सम्यक्त्व का माहात्म्य जानकर जो भव्यजीव अष्टमूल गुणों का पालन करते हैं मानों वे ही पुरुष शुद्ध सम्यक्त्व के पात्र हैं अथवा पात्र होने के वे ही जीव अधिकारी हैं ।

शंकाद्य दोषं मद मान मुक्तं, मूढं त्रियं मिथ्या माया न दृष्टं ।
अनाय षट्कर्म मल पंचवींसं, त्यक्तस्य ज्ञानी मल कर्म मुक्तं ॥१४॥

शंकादि वसु दोष, मानादि मद को, जिसके हृदय में कुछ थल नहीं है ।
त्रय मूढ़ता, षट आनायतन की, जिस पर न पड़ती छाया कहीं है ॥
उपरोक्त पच्चीस मल-वैरियों पर, जिसने विजय प्राप्त की भव्य भागी ।
वह कर्म के पाश से छूटता है, बनता वही मुक्ति-रमणी-विहारी ॥

जिसके अपने जीवन में सम्यग्दर्शन के शंकादि ८ दोष, जाति कुल आदि के ८ मद, तीन मूढ़ता तथा अज्ञान पूर्वक किए हुए ६ कर्म, ऐसे ये पच्चीस दोष नहीं हैं, वह ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही कर्मों की पाश से छूटकर मोक्ष का सीधा मार्ग पकड़ लेता है और एक दिन समस्त कर्मों से मुक्त होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, आत्मा को परमात्मा बना लेता है ।



शुद्धं प्रकाशं शुद्धात्मतत्त्वं, समस्त संकल्प विकल्प मुक्तं ।
रत्नत्रयालंकृत सत्स्वरूपं, तत्वार्थसार्धं बहुभक्तियुक्तं ॥१५॥

शुद्धात्मा-तत्व का भव्य जीवो, है शुद्ध, मित, सौम्य, निर्मल प्रकाश ।
संकल्प आदिक का क्षोभ उसमें, करता नहीं रंच भी है निवास ॥
शुद्धात्मा का शुद्ध स्वरूप, है रत्नत्रय से सज्जित सुखारी ।
तत्वार्थ का सार भी बस यही है, भव्यो बनो आत्म के तुम पुजारी ॥

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष नित्यप्रति शुद्धात्मा के गुणों का चिन्तवन करते रहते हैं तथा उसी तरह के अपने धर्म-आत्म धर्म में लीन बने रहते हैं, संसार के दुखों का उन्हें आभास भी नहीं होता ।

ऐसे विशिष्ट महात्मा पुरुष जीवादि तत्त्वों के ज्ञान में पारंगत होकर अपनी आत्मा में लीन रहने लग जाते हैं, और समय पाकर समस्त संकल्प विकल्पों से छूटकर कर्मों की बेड़ियों को विध्वंस करके उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे मुक्तावस्था या परमपद कहते हैं ।

जे धर्म लीना गुण चेतनेत्वं, ते दुःख हीना जिनशुद्धदृष्टी ।
संप्रोय तत्वं सोई ज्ञान रूपं, व्रजंति मोक्षं क्षणमेक एत्वं ॥१६॥

शुद्धात्मा के चैतन्य गुण में, जो नर निरन्तर लवलीन रहते ।
वे विज्ञ ही हैं, जिन शुद्ध दृष्टी, संसार दुख-धार में वे न बहते ॥
जीवादि तत्वों का ज्ञान करके, होते स्वरूपस्थ वे आत्म-ध्यानी ।
कर्मारि-दल का विध्वंस करके, वरते वही वे शिवा-सी भवानी ॥

जो भव्यजीव अपने आपके आत्म धर्म में लीन रहते हुए आत्म गुणों का चिंतवन करते हैं वे पुरुष संसार के समस्त दुखों से रहित होकर अन्तरात्मा से परमात्मपद पाने के अधिकारी हो जाते हैं । उनकी शुद्धात्मा से जो प्रकाश प्रगट होता है वह प्रकाश ही उन्हें निर्मल तथा ज्ञान बना देता है । यह प्रकाश तीन रत्नों की जगमगाहट से परिपूर्ण रहता है, अतः ऐसे प्रकाश वाले उस अलौकिक शुद्धात्म तत्व की अर्चना में तुम अपने हृदय की पूर्ण निर्मलता का उपयोग करो, यह तुम्हारी निर्मलता एक क्षण में तुम्हें मुक्ति का दर्शन करा देगी और समय पाकर मुक्तिस्थान में पहुँचा देगी ।



जे शुद्ध दृष्टी सम्यक्त्व शुद्धं, माला गुणं कंठ हृदय अर्न्लितं ।
तत्वार्थ सार्धं च करोति नित्यं, संसार मुक्तं शिव सौख्य वीर्यं ॥१७॥

जो शुद्ध दृष्टी शुद्धात्म-प्रेमी, नित पालते हैं सम्यक्त्व पावन ।
अपने हृदयस्थल पर धारते हैं, जो यह गुणों की माला सुहावन ॥
वे भव्य जन ही पाते निरन्तर, तत्वार्थ के सार का चारु प्याला ।
संसार-सागर से पार होकर, पाते वही जीव चिर सौख्य-शाला ॥

जो शुद्ध दृष्टी शुद्धात्म पुरुष सम्यक्त्व का नित प्रति पूर्ण रूप से पालन करते हैं तथा जो अपने कंठ में अध्यात्म मालिका धारण करते हैं वे ही तत्वार्थ की उस माधुरी का पान करने में समर्थ हो पाते हैं और वे ही जीव संसार सागर से पार होकर मुक्तिशाला में जाकर विराजमान होते हैं ।

ज्ञानं गुणं माल सुनिर्मलेत्वं, संक्षेप गुथितं तुव गुण अनन्तं ।
रत्नत्रयालंकृत सस्वरूपं, तत्वार्थ सार्धं कथितं जिनेंद्रैः ॥१८॥

शुद्धात्मा की गुणमालिका में, वाणी अगोचर हैं पुष्प भाई ।
संक्षेप में ही, पर पुष्प चुन चुन, यह दिव्य माला मैंने बनाई ॥
आगम, पुराणों से तुम सुनोगे, बस एक ही वाक्य परमात्मा का ।
रत्नत्रयाच्छन्न है भव्य जीवो, शशि सा सुलक्षण परमात्मा का ॥

वैसे तो अध्यात्म गुणों की इस मालिका में अर्थात शुद्धात्मा में अनेकों सुरभियुक्त प्रसून गूंथे हुए हैं, किन्तु उनमें से कुछ ही प्रसूनों (फूलों) को उठाकर उनके गुणों की चर्चा मैंने तुमसे की है । आगम पुराण और संसार के सारे ज्ञान व विज्ञानों से तुम्हें एक ही कथन सुनने को मिलेगा और वह यह कि शुद्धात्मा या अध्यात्म मालिका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की निधान है, उस निधान की-तत्त्वार्थ की तुम श्रद्धा करो, एकमात्र यही जिनेन्द्रदेव का कथन है ।



श्रेनीय पृच्छंति श्री वीरनाथं, मालाश्रियं मागंत नेहचक्रं ।
धरणेन्द्र इन्द्र गन्धर्व जक्षं, नरनाह चक्रं विद्या धरेत्वं ॥१९॥

श्री वीर प्रभु से श्रेणिक नृपति ने, पूछा सभा में मस्तक नवाकर ।
इस मालिका को त्रिभुवन तली पर, किसने विलोका कहो तो गुणागर ?
क्या इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व ने भी, देखी कभी नाथ यह दिव्यमाला ?
या यक्ष, चक्रेश, विद्याधरों ने, पाया कभी नाथ यह मुक्ति-प्याला ?

भगवान महावीर से श्रेणिक नृपति ने उनके समोशरण में एक प्रश्न पूछा—भगवन् ! त्रिभुवन में इस अध्यात्म माला के दर्शन पाने में कौन समर्थ हुआ ? इस अलौकिक गुणों की लक्ष्मी ने किसके गले में जयमाला डाली ?

क्या इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व सरीखी विभूतियों ने कभी इस माला को देखा या कभी यक्ष, चक्रेश या विद्याधरों ने इस माला को आरोहण किया ? हे सम्यक्त्वधाम ! यह आप बतावें ।

किं दिप्त रतनं वहुवे अनन्तं, किं धन अनंतं वहुभेय युक्तं ।
किं त्यक्त राज्यं बनवासलेत्वं, किं तत्व वेत्वं वहुवे अनंतं ॥२०॥

जिसके भवन में हीरे जवाहिर, या द्रव्य की लग रहीं राशि भारी ।
ऐसे कुवेरों ने भी प्रभो क्या, देखी कभी माल यह सौख्यकारी ॥
या राज्य को त्याग जोगी बने जो, उनने विलोकी यह माल स्वामी ।
या सप्त तत्वों के पंडितों ने, देखी गुणावलि यह मोक्षगामी ?

हे भगवन ! जिसके भवन में हीरे, जवाहर या रत्नों की राशियों के ढेर लगे थे ऐसे कुवेर ने भी क्या कभी इस मालिका के दर्शन किये ? या जो राज्य पाट को त्याग कर योगी बन गये उन्होंने कभी इस मालिका से अपना हृदय सुशोभित किया या कभी इस मालिका को अपने वक्षस्थल पर वे देख पाये जो जंगलों अथवा पर्वतों में जाकर घोर तप करते हैं और जिनका शरीर तपस्या के मारे सूख कर कांटा हो गया है ?



श्री वीरनाथं उक्तं च शुद्धं, श्रुणु श्रेण राजा माला गुणार्थं ।
किं रत्न किं अर्थ किं राजनाथं, किं तत्व वेत्वं नवि माल दृष्टं ॥२१॥

बोले जिनेश्वर श्री मुख-कमल से, 'श्रेणिक सुनो मालिका की कहानी ।
इस आत्म-गुण की सुमनावली के, दर्शन सहज में न हों प्राप्त ज्ञानी ॥
ना तो कभी रत्नधन-धारियों ने, श्रेणिक सुनो मालिका यह निहारी ।
ना मालिका को उनने विलोका, जो मात्र थे तत्व के ज्ञानधारी ॥

समदर्शी भगवान महावीर बोले—'श्रेणिक ! मैं इस अध्यात्म माला की कहानी तुमसे कहता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो ! सारभूत बात यह है कि यह अध्यात्म मालिका उन साधारण मालाओं सी माला नहीं, श्रेणिक ! जिसके दर्शन सबको ही सहज में प्राप्त हो जावें । न तो हीरे जवाहरात के धनी इसे पा सके, न वे ही इस माला को पहिन सके जो मात्र तत्त्वज्ञाता थे या जो राज्यपाट छोड़कर केवल वेषधारी बनकर जंगलों या पर्वतों में घोर तपस्या को चले गये और तप करते हुये शरीर को सुखा डाला ।

किं रत्न कार्यं बहुविहि अनंतं, किं अर्थ अर्थं नहि कोपि कार्यं ।
किं राज चक्रं किं काम रूपं, किं तत्व वेत्वं विन शुद्ध दृष्टि ॥२२॥

"इस माल के दर्शनों में न तो भूप, रत्नादि पत्थर ही काम आवें ।
ना सार्वभौमों के राज्य या धन, ही इस गुणावलि को देख पावें ॥
ना तो इसे देख तत्वज्ञ पाये, ना कामदेवों-से दृग-सुखारी !
दर्शन वही कर सके मालिका का, थे जो सुनो शुद्धतम दृष्टि धारी ॥"

पुनश्च—हे श्रेणिक ! इस माला को प्राप्त करने में न तो रत्नादि पत्थर ही काम आते हैं और न चक्रवर्तियों के राज्य पाट या वैभव ही । तथा कामदेव का तीनों भुवन को मोह लेने वाला रूप भी इस माला को प्राप्त न कर सका । तात्पर्य यह है कि—बिना शुद्ध दृष्टि के ये सब ही इस अध्यात्म माला को पाने में असफल रहे अर्थात न पा सके ।



जे इन्द्र धरणेन्द्र गंधर्व यक्षं, नाना प्रकारं बहुविहि अनंतं ।
तऽनंत प्रकारं बहु भेय कृत्वं, माला न दृष्टं कथितं जिनेन्द्रैः ॥२३॥

"श्रेणिक ! सुनो वास्तविक गूढ़ यह है, जो पूर्णतम है सम्यक्त्व धारी ।
केवल वही पुण्यशाली सुजन ही, नृप ! धर सके मालिका यह सुखारी ॥
जो इंद्र, धरणेन्द्र, गंधर्व, यक्षादि, नाना तरह के तुमने बताये ।
वे स्वप्न में भी कभी भूल राजन् ! यह दिव्य माला नहीं देख पाये ॥"

हे श्रेणिक ! इन्द्र इत्यादि संसारी भावनाओं की कामना वाले इस माला के दर्शनों से वंचित रहे, भले ही उन्होंने अनेक भेद प्रभेद पूर्वक आचरण किये, किन्तु अध्यात्म माला और उसके पाने के रहस्य को समझे बिना कोई भी उसे न पा सके । दूसरे शब्दों में तात्पर्य यह कि इस माला का संबंध रत्नादि पत्थरों से, चक्रवर्तियों के राज्य-वैभव से, इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व, यक्षादि की विभूति से या कामदेव के अद्वितीय रूप से न होकर आत्मा के विशिष्ट गुणों से है; इसलिये यह सब इसे प्राप्त न कर सके । श्रेणिक ! यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है । इसके रहस्य को समझने में भी तुम भूल न करना ।

जे शुद्ध दृष्टी सम्यक्त्व युक्तं, जिन उक्त सत्यं सु तत्वार्थ सार्धं ।
आशा भय लोभ स्नेह त्यक्तं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥२४॥

जो स्याद्वादज्ञ, सम्यत्व-सम्पन्न, शुचि, शुद्धदृष्टी, निज आत्मध्यानी ।
तत्वार्थ के सार को जानते नित्य, ध्याते पतित-पावनी जैन वाणी ॥
आशा, भय, स्नेह औ लोभ से जो, बिलकुल अछूते हैं स्वात्मचारी ।
वे ही हृदय कंठ में नित पहिनते, है आत्म-गुणमाल यह सौख्यकारी ॥

हे श्रेणिक ! इस अध्यात्ममाला को केवल वे ही व्यक्ति प्राप्त कर सके जो दर्शन, ज्ञान और आचरण से संयुक्त "शुद्ध दृष्टी" थे, सम्यक्त्व से परिपूर्ण थे। इस मालिका के साथ जो रहस्य है वह यह है कि केवल सम्यक्त्व से परिपूर्ण शुद्ध दृष्टि पुरुष ही इसे प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं।

जिन्हें करुणामयी जिनवाणी के वचनों पर अटूट श्रद्धा होती है, तत्त्वार्थ के सार आत्मा के जो पूर्णरूपेण ज्ञाता होते हैं तथा आशा, भय, लोभ और स्नेह से जिनका हृदय दूर बहुत दूर हो जाता है ऐसे नररत्नों के हृदय ही इस मालिका से सुशोभित होते हैं, हुए हैं, और होवेंगे।



जिनस्य उक्तं जे शुद्ध दृष्टी, सम्यक्त्वधारी बहुगुणसमृद्धिम् ।
ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं, मुक्ती प्रवेशं कथितं जिनेन्द्रैः ॥२५॥

"जिन-उक्त-तत्वों को जानते हैं, जो पूर्ण विधि से सम्यक्त्व धारी ।
आत्म-समाधि सा मिल चुका है, जिनको समुज्ज्वल-तम रत्न भारी ॥
उनके हृदय-कंठ पर ही निरंतर, किल्लोल करतीं ये माल ज्ञानी !
वे ही पुरुष मुक्ति में राज्य करते, कहती जगतपूज्य जिनराज-ज्ञानी ॥"

श्री जिनवाणी ने जिन सिद्धांतों का अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, जो उनको भली भांति अपने जीवन में उतारते हैं; वे सम्यक्त्वनिधि को पाकर त्रैलोक्य के धनी बन जाते हैं। हे श्रेणिक ! सुनो ! ऐसे पुरुष ही इस मालिका को अपने वक्षस्थल पर धारण करने में समर्थ होते हैं और ऐसे ही पुरुष कर्मों के पाश से छूटकर मुक्तिस्थान में पहुँचकर चिरकाल पर्यंत निवास करते हैं।

सम्यक्त्व शुद्धं मिथ्या विरक्तं, लाजं भयं गारव जेवि त्यक्तं ।
ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं, मुक्तस्य गामी जिनदेव कथितं ॥२६॥

"मिथ्यात्व को सर्वथा त्याग कर जो, नर हो चुके हैं सम्यक्त्व धारी ।
जिनके हृदय लाज, भय से रहित हैं, जिनने किये नष्ट मद अष्ट भारी ॥
उनकी हृदय-सेज ही भव्य जीवो ! इस मालिका की क्रीड़ास्थली है ।
जिनदेव कहते उनके रमण को, ही बस खुली शिवनगर की गली है ॥"

जिनके हृदय में शुद्ध सम्यक्त्व का सरोवर लहरें लिया करता है—संसार की विडंबनाओं से जो पूर्ण मुक्ति पा चुके हैं, तथा लौकिक लाज, भय और मदों से अपना पल्ला छुड़ा चुके हैं, हे श्रेणिक ! सुनो ! पुरुषों में ऐसे ही उत्तम पुरुष इतनी क्षमता रखते हैं कि इस अध्यात्म-माला को अपने वक्षस्थल पर सजा सकें और केवल वही पुरुष ही संसार सागर को पार कर मुक्ति नगर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं ।



जे दर्शनं ज्ञान चारित्र शुद्धं, मिथ्यात्व रागादि असत्य त्यक्तं ।
ते माल दृष्टं हृदयकंठ रुलितं, सम्यक्त्व शुद्धं कर्म विमुक्तं ॥२७॥

शुचि, शुद्ध दर्शन, ज्ञानाचरण से, जिनके हृदय में मची है दिवाली ।
मिथ्यात्व, मद, झूठ, रागादि के हेतु, जिनके न उर में कहीं ठौर खाली ॥
उनके हृदय कंठ पर ही निरंतर, ये माल मनहर लटकती रही है ।
वे ही सुजन हैं जिन शुद्ध दृष्टी, रिपु-कर्म से मुक्ति पाते वही हैं ॥

दर्शन, ज्ञान, आचरण और वह भी सम्यक् की संज्ञा को प्राप्त हुआ ऐसे रत्नत्रय के संयोग से जिनका हृदय दीपावली के समान जगमगाया करता है, मिथ्यात्व भाव या खोटे-राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले पदार्थों का मोह जिनमें रंचमात्र भी निवास नहीं करता, तथा राग द्वेष परिणतियों और असत्य को जो बिलकुल ही तिलांजलि दे चुके हैं, हे श्रेणिक ! ऐसे ही महात्माओं को यह सौभाग्य प्राप्त होता है कि वे उस अध्यात्म-माला के प्रसाद से अपने को कृत-कृत्य कर सकें ।

पदस्थ पिण्डस्थ रूपस्थ चित्तं, रूपा अतीतं जे ध्यान युक्तं।
आर्त रौद्रं मद मान त्यक्तं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥२८॥

पादस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, निमूर्त, इन ध्यान-कुंजों के जो बिहारी।
मद-मान-से शत्रुओं के गढ़ों पर, जिनने विजय प्राप्त की भव्य भारी ॥
जिनके न तो रौद्र ही पास जाता, जिनको न ध्यानार्त की गंध आती।
ऐसे सुजन-पुंगवों के हृदय ही, यह आत्मगुण-मालिका है सजाती ॥

पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये धर्मध्यान के चार भेद ही जिनके दैनिक जीवन के अंग हो जाते हैं, आर्त और रौद्र ध्यान जिनके पास फटकने भी नहीं पाता तथा अष्ट मदों को जलाकर जो भस्म कर चुके हैं, हे श्रेणिक ! ऐसे ही आत्मबल में श्रेष्ठ पुरुष इस माला को अपने हृदय पर पहिरने के अधिकारी हुआ करते हैं।



आज्ञा सुवेदं उपशम धरेत्वं, क्षायिकं शुद्धं जिन उक्त सार्धं।
मिथ्या त्रिभेदं मल राग खंडं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥२९॥

जो श्रेष्ठतम नर वेदक व उपशम, सम्यक्त्व के हैं शुचि शुद्ध धारी।
मिथ्यात्व से हीन, है प्राप्त जिनको, सम्यक्त्व क्षायिक-सा रत्न भारी ॥
मद-राग से जो रहित सर्वथा हैं, जो जानते जिन-कथित तत्त्व पावन।
वे ही हृदस्थल पर देखते हैं, नित राजती, मालिका यह सुहावन ॥

आज्ञा, वेदक, उपशम और क्षायिक सम्यक्त्व के जो पूर्णरूपेण धारी हो जाते हैं, तीन प्रकार के मिथ्यात्वों को जो खंड खंड करके एक ओर डाल देते हैं तथा कर्मों के पहाड़ को रजकणों में मिला देने का पुरुषार्थ जिनमें जाग्रत हो जाता है, हे श्रेणिक सुनो ! यह अध्यात्ममाला उनके ही कंठ में निवास करती है।

अंधश्रद्धा से नहीं, विवेकपूर्वक जिन-वचनों पर विश्वास करने को आज्ञा सम्यक्त्व जानना।

जे चेतना लक्षणो चेतनेत्वं, अचेतं विनासी असत्यं च त्यक्तं ।
जिन उक्त सत्यं सु तत्वं प्रकाशं, ते माल दृष्टं हृदयकंठ रुलितं ॥३०॥

चैतन्य-लक्षण–मय आत्मा के, हैं जो निराकुल, निश्चल पुजारी ।
अनृत, अचेतन, विनाशीक, पर में, जिनको नहीं रंच ममता दुखारी ॥
जिनके हृदय में जिन उक्त तत्वों, की नित्य जलती संतप्त ज्वाला ।
उनके हृदय-कंठ को ही जगाती, श्रेणिक सुनो ! यह अध्यात्म–माला ॥

हे श्रेणिक ! और सुनो कि यह माला किसके गले में जयमाल डालती है, उसके जो चैतन्य लक्षण मय आत्मा का बिलकुल और निश्चल पुजारी होता है तथा अचेतन, विनाशीक और मिथ्या पदार्थों में जिसे रंचमात्र भी श्रद्धा नहीं होती और भगवान के वचनों से जिसका हृदय तीनों काल प्रकाशित रहता है और तत्त्वों का प्रकाश जिसके हृदय में नित नये ज्योति के पुंज बिखराया करता है ।



जे शुद्ध बुद्धस्य गुण सस्य रूपं, रागादि दोषं मल पुंज त्यक्तं ।
धर्मं प्रकाशं मुक्ति प्रवेशं, ते माल दृष्टं हृदय कंठ रुलितं ॥३१॥

जिन शुद्ध जीवों को दिख चुकी है, निज आत्मकी माधुरी मूर्ति बाँकी ।
जिनके दृगों के निकट झूलती है, प्रतिपल सुमुखि मुक्ति की दिव्य झाँकी ॥
जो रागद्वेषादि मल से परे हैं, जो धर्म की कान्ति को जगमगाते ।
इस मालिका को वही शुद्ध दृष्टी, अपने हृदय पर फबी देख पाते ॥

जिन्हें अपनी आत्मा की विशुद्ध झाँकी दिख चुकी है—जो शुद्ध बुद्ध परमात्मा और अपनी आत्मा में अब कोई भेद नहीं पाते हैं—राग द्वेष और संसार के अन्य सभी दोष जिनसे कोसों दूर भाग चुके हैं तथा जिनकी यह स्थिति हो गई है कि धर्म में आचरण कर वे अब धर्म के स्थंभ बन गये हैं—धर्म उनसे अब प्रकाशमान होने लगा है । हे राजा श्रेणिक ! ऐसे ही नरश्रेष्ठ इस अध्यात्म गुण की मालिका से अपना यह देव–दुर्लभ जीवन सजाते हैं और उन्हीं के कंठ में रहकर यह समकित माल तीनों काल किल्लोल किया करती है ।

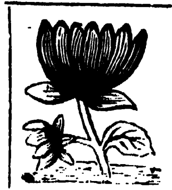
जे सिद्ध नंतं मुक्ति प्रवेशं, शुद्धं स्वरूपं गुण माल ग्रहितं ।
जे केवि भव्यात्म सम्यक्त्व शुद्धं, ते जात मोक्षं कथितं जिनेंद्रैः ॥३२॥

अब तक गये विश्व से जीव जितने, चोला पहिन मुक्ति का शिद्ध शाला ।
अपने हृदय पर सजा ले गये हैं, वे सब यही आत्म-गुण-पुष्पमाला ॥
इस ही तरह शुद्ध सम्यक्त्व धरकर, जो माल धरते यह सौख्यकारी ।
कहते जिनेश्वर वे मुक्त होकर, बनते परमब्रह्म आनन्दधारी ॥

हे राजा श्रेणिक सुनो ! मैं तुम्हें सार की बात बताता हूँ । अब तक जितने भी जीव सिद्धि का चोला पहिन कर मुक्तिशाला को पहुँचे हैं सबके वक्षस्थल इसी मालिका से सुशोभित हुए थे और सदैव ही रहेंगे । तथा आगे जो जीव इस समकित माल को पहिनेंगे वे नररत्न भी मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करेंगे ।

यह मालिका क्या है, केवल अपने शुद्ध स्वरूप के गुणों का सम्यक् संकलन ।

वैभव या नश्वर लौकिक वस्तुओं से इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु उत्तरोत्तर साधनाओं के निकट यह स्वयं अपने आप ही चली आती है । जो भव्य जन शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त कर आगे भी इसी तरह साधना करते जायेंगे, जिनवाणी का कथन है कि वे भी निश्चय से इसी समकित माल को धारण कर मुक्ति का वह साम्राज्य पाते जायेंगे जो कल्पना से परे है ।



अथ कमल बत्तीसी

सम्यक्ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है

आत्मा के स्वभाव को समझने का मार्ग सीधा और सरल है। यदि यथार्थ मार्ग को जानकर उस पर धीरे धीरे चलने लगे तो भी पंथ कटने लगे, परन्तु यदि मार्ग को जाने बिना ही आंखों पर पट्टी बांधकर तेली के बैल की तरह चाहे जितना चलता रहे तो भी वह घूम घामकर वहीं का वहीं बना रहेगा। इसी प्रकार स्वभाव का सरल मार्ग है। उसे जाने बिना ज्ञान नेत्रों को बन्द करके चाहे जितना उलटा सीधा करता रहे और यह माने कि मैंने बहुत कुछ किया है; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई तूने कुछ नहीं किया, तू संसार का संसार में ही स्थित है, तू किंचित् मात्र भी आगे नहीं बढ़ सका। तूने अपने निर्विकार ज्ञानस्वरूप को नहीं जाना, इसलिये तू अपनी गाड़ी को दौड़ाकर अधिक से अधिक अशुभ से खींचकर शुभ में ले जाता है और उसी को धर्म मान लेता है, परन्तु इससे तो तू घूम घामकर वहीं का वहीं विकार में ही आ जमता है। विकार-चक्र में चक्कर लगा कर यदि विकार से छूटकर ज्ञान में नहीं आया तो तूने क्या किया? कुछ भी नहीं। —'सम्यग्दर्शन'

सम्यक् विचार



तृतीय धारा (कमलबत्तीसी)



तत्वं च परम तत्वं परमप्पा, परम भाव दरसीए।
परम जिनं परमिस्टी, नमामिहं परम देवदेवस्य ॥१॥

तत्वों में जो तत्व परम हैं, भाव परम दरशाते।
परम जितेन्द्रिय परमेष्ठी जो, परमेश्वर कहलाते॥
सब देवों में देव परम जो, वीतराग, सुख-साधन।
ऐसे श्री अरहन्त प्रभू को, करता मैं अभिवादन॥

जो तत्त्वों में परम तत्व परमात्म स्वरूप जो आत्माएँ श्रेष्ठतम भावों को प्राप्त कर चुकी हैं, ऐसी उन आत्माओं को जो पंच परमेष्ठी पद धारी देवों के द्वारा भी वंदनीय हैं उन्हें मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ। यह आदि मंगल श्री तारन स्वामी ने किया है, यह नमस्कार व्यक्तिवाचक नहीं, गुणवाचक है। 'जैनधर्म में व्यक्ति की नहीं, गुणों की ही मान्यता की गई है।' बस यहीं से अध्यात्म-वाद और इसके विपरीत मान्यताओं में जड़वाद का सिद्धान्त बन जाता है।

जिन वयनं सद्दहनं, कमलसिरि कमल भाव उववन्नं ।
आर्जव भाव संजुत्तं, ईर्जं स्वभाव मुक्ति गमनं च ॥२॥

पतितोद्धारक जिनवाणी के, होते जो श्रद्धानी ।
आत्म-कमल से प्रगटें, उनके, ही भव-भाव भवानी ॥
आत्मबोध का होजाना ही, आकुलता जाना है ।
आकुलता का जाना ही बस, शिव सुख को पाना है ॥

जो पतितोद्धारक जिनवाणी में अटूट श्रद्धा रखते हैं उनके हृदय से, कमल के समान निराकुल और पवित्र भावों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि जहां आत्मबोध हो जाता है, वहां आकुलता समूल नष्ट हो जाती है और जहां आकुलता नहीं वहाँ मुक्ति का द्वार तो फिर खुला ही है, ऐसा समझो ।



अन्मोयं न्यान सहावं, रयनं रयन स्वरूपममल न्यानस्य ।
ममलं ममल सहावं, न्यानं अन्मोय सिद्धि संपत्ति ॥३॥

ज्ञान--स्वभाव है, स्वत्व सनातन, आत्मतत्त्व का प्यारा ।
रत्नत्रय से है प्रदीप्त वह, रत्न प्रखरतम न्यारा ॥
कर्मों से निर्मुक्त सदा वह, शुचि स्वभाव का धारी ।
जो उसमें नित रत रहते वे, पाते शिव सुखकारी ॥

ज्ञान, आत्मा का एक जन्मसिद्ध और सनातन गुण है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नों से वह सदैव ही प्रदीप्त रहता है ।

कर्मों के बंधनों से यह नितान्त निर्मुक्त है, अत: ऐसे निर्मल स्वभाव के धारी आत्मतत्त्व का जो ज्ञानी चिंतवन करते हैं, वे निश्चय ही उस सिद्धि-सम्पत्ति के अधिकारी बनते हैं। तात्पर्य यह कि-आत्मा का अपना जो ज्ञान स्वभाव, उससे प्रीति करना ही एकमात्र मोक्षप्राप्ति का उपाय है, साधन है ।

जिनयति मिथ्या भावं, अनृत असत्य पर्जाव गलियं च।
गलियं कुन्यान सुभावं, विलयं कम्मान तिविह जोएन ॥४॥

आत्म–मनन से मिथ्यादर्शन; ईंधन-सा जल जाता।
अनृत, अचेतन, असत् पदों में, मोह न फिर रह पाता ॥
'सोऽहं' की ध्वनि क्षय कर देती, कुज्ञानों की टोली।
आत्म–चिन्तवन रचदेता है, अष्ट मलों की होली ॥

आत्ममनन से मिथ्यादर्शन, ईंधन के समान जलकर भस्म हो जाता है, जिसका फल यह होता है कि अनृत, अचेतन और असत् पदार्थों में फिर मोह रहता ही नहीं।

कुज्ञानों का समूह आत्म-मनन की ध्वनि को सुनकर पलायमान हो जाता है और अष्ट कर्मों की तो यह आत्म–मनन मानों होली ही रचकर भस्मीभूत कर देता है।



नन्द आनन्दं रूवं, चेयन आनन्द पर्जाव गलियं च।
न्यानेन न्यान अन्मोयं, अन्मोयं न्यान कम्म षिपनं च ॥५॥

परम ब्रह्म में जब रत होता, मन–मधुकर–मतवाला।
सत् चित्, आनन्द से भर उठता, तब अंतर का प्याला ॥
ज्ञानी चेतन, ज्ञान–कुण्ड में, खाता फिर फिर गोते।
मलिन भाव और सबल कर्म तब, पल पल में क्षय होते ॥

जिस समय यह मन परम ब्रह्म स्वरूप शुद्धात्मा के चिंतवन में लीन होता है, उस समय सत् चित और आनन्द से अंतरंग हृदय भर जाता है। होता यह है कि चेतन के ज्ञान कुण्ड में बार बार गोता लगाने से, हमारी मलिन आत्मा के समस्त मलिन भाव और कर्म क्रमशः क्षीण होने लगते हैं, जो कर्मावरण क्षीण होने से हमें हमारा वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी का दूसरा नाम सम्यक्त्व का उदय है अथवा आत्म–साक्षात्कार हो जाना है।

कम्म सहावं षिपनं, उत्पन्न षिपिय दिष्टि सद्भावं ।
चेयन रूव संजुत्तं, गलियं विलयंति कम्म बंधानं ॥६॥

कर्मों का नश्वर स्वभाव है, जब वे खिर जाते हैं ।
क्षायिक-सम्यग्दर्शन-सा तब, रत्न मनुज पाते हैं ॥
क्षायिक सम्यग्दृष्टी नित प्रति, आत्म-ध्यान धरता है ।
जन्म जन्म के कर्मों को वह, क्षण में क्षय करता है ॥

कर्मों का स्वभाव नश्वर है—क्षयशील है और जब वे खिरने लग जाते हैं, तब ज्ञानी के हाथों में मानों एक अनुपम रत्न की प्राप्ति हो जाती है जिसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने स्वभाव के अनुरूप ही आत्म-अर्चना में मग्न रहता है, जिससे जन्म जन्म के संचित कर्मों को वह अल्पकाल में ही नष्ट कर देता है और केवलज्ञान लक्ष्मी का अधिपति बनकर पंचमगति पा लेता है।



मन सुभाव संषिपनं, संसारे सरनि भाव षिपनं च ।
न्यान बलेन विसुद्धं, अन्मोयं ममल मुक्ति गमनं च ॥७॥

इस चंचल मन का स्वभाव है, नाशवान प्रिय भाई ।
नश्वर है मिथ्यादर्शन की, भी प्रकृति दुखदाई ॥
आत्मज्ञान ही सरल शुद्ध, भावों को उपजाता है ।
सरल शुद्ध भावों के बल से, ही नर शिव पाता है ॥

मन का स्वभाव भी नश्वर है, और मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति भी शाश्वत नहीं है, क्षीण होने वाली है। आत्मज्ञान से मन की प्रकृति और मिथ्यादर्शन की प्रकृति ये दोनों नष्ट हो जाती हैं और उनकी जगह सरल और शुद्ध भाव ग्रहण कर लेते हैं और इन सरल शुद्ध भावों के बल पर ही मनुष्य मुक्तिलोक की अपार सम्पदा का अधिकारी बन जाता है। अतः शुद्ध भावों की जाग्रति एवं रक्षा और दिन प्रति दिन वृद्धि करनी चाहिये, बस यही मनुष्यजीवन की सार्थकता है, सारभूत पुरुषार्थ है, मोक्ष का उपाय है।

वैरागं तिविहि उवनं, जनरंजन रागभाव गलियं च ।
कलरंजन दोष विमुक्कं, मनरंजन गारवेन तिक्तं च ॥८॥

भव, तन, भोगों से निस्पृह, बन जाता आत्म-पुजारी ।
जन-रंजन गारव न उसे रह, देता दुख दुखकारी ॥
तन-रंजन के भय से वह, छुटकारा पा जाता है ।
मन-रंजन गारव भी उसके, पास न फिर आता है ॥

आत्मा का मनन करने वाला, जनरंजन, तन रंजन, और मन रजन इन तीनों भावों से छुटकारा पा जाता है । आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी को न तो फिर लोक को रंजायमान अर्थात प्रसन्न करने की प्रवृत्ति रहती है, और न तन को व मन को भी । इन तीनों की ओर से वह पूर्ण उदासीन ही बन जाता है । उसके चित्त में तो केवल वैराग्य ही किल्लोलें करता है ।



दर्सन मोहंध विमुक्कं, रागं दोषं च विषय गलियं च ।
ममल सुभाउ उवन्नं, नन्त चतुस्टये दिस्टि संदर्स ॥९॥

दर्शन-मोह से हो जाता है, मुक्त आतम का ध्यानी ।
रागद्वेष से उसकी ममता, हट जाती दुखदानी ॥
घट में उसके आत्म-भाव का, हो जाता उजियाला ।
नंत चतुष्टय की जिसमें नित, जगती रहती ज्वाला ॥

आत्म-ध्यानी पुरुष दर्शनमोह से मुक्त हो जाता है; राग द्वेष से उसकी ममता घट जाती है और उसके घट में आत्मभाव का सुन्दर उजियाला हो जाता है । वह उजियाला जिसमें अनन्त चतुष्टय की प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती रहती है ।

तिअर्थं सुद्ध दिष्टं, पंचार्थं पंच न्यान परमेस्टी ।
पंचाचार सु चरनं, सम्मत्तं सुद्ध न्यान आचरनं ॥१०॥

सम्यग्दृष्टी नितप्रति निर्मल, रत्नत्रय को ध्याता ।
पंच ज्ञान, पंचार्थ, पंच प्रभु, का होता वह ज्ञाता ॥
पंचाचारों का नितप्रति ही, वह पालन करता है ।
सब मिथ्या व्यवहार त्याग वह, आत्म-ध्यान धरता है ॥

जिसे आत्मबोध हो जाता है या जो एकमात्र आत्मा का ही पुजारी रहता है वह नित प्रति रत्नत्रय का ही चिन्तवन किया करता है।

पांचों ज्ञान, पांचों तत्त्व तथा पांचों प्रभु के गुणों का वह पूर्ण ज्ञाता रहता है। पंचाचारों का वह नियम पूर्वक पालन करता है तथा मिथ्या व्यवहारों से वह अपना अंचल छुड़ाकर सदा आत्मध्यान में ही लवलीन रहा करता है। यही सब उसके ज्ञान सहित व सम्यक्त्व सहित बाह्य व अभ्यन्तर आचरण हैं।



दर्सन न्यान सुचरनं, देवं च परम देव सुद्धं च ।
गुरुवं च परम गुरुवं, धर्मं च परम धर्म संभावं ॥११॥

आत्म तत्व ही इस त्रिभुवन में, सच्चा रत्नत्रय है ।
सब देवों का देव वही, परमेश्वर एक अजय है ॥
आत्म तत्व ही सब गुरुओं में, श्रेष्ठ परम गुरु ज्ञानी ।
सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म बस, आत्म तत्व सुखदानी ॥

इस त्रिभुवन में यदि कोई सच्चा रत्नत्रय है तो वह है शुद्धात्मा, सच्चा देव कोई है तो वह है शुद्धात्मा, गुरु यदि सच्चा गुरु है तो वह है शुद्धात्मा और धर्म कोई है तो वह भी शुद्धात्मा ही है, जिसकी विद्यमानता बाहर कहीं नहीं, अपने आप में घट घट में है।

तात्पर्य यह कि—अपने आपकी शुद्धात्म-परिणति ही सम्यक्त्व है और वही संसार सागर से पार लगाने वाला सच्चा धर्म है।

जिन पंच परम जिनयं न्यानं पंचामि अक्षरं जोयं ।
न्यानेय न्यान विधं, ममल सुभावेन सिद्धि सम्पत्तं ॥१२॥

आत्म तत्व ही सम्यक्त्वी का, परमेष्ठी पद प्यारा ।
आत्म तत्व ही उसका, केवलज्ञान अलौकिक न्यारा ॥
आत्म तत्व के अनुभव से ही, आत्मज्ञान बढ़ता है ।
आत्मज्ञान के बल पर ही नर, शिवपथ पर चढ़ता है ॥

सम्यग्दृष्टी पुरुष के लिये आत्मतत्त्व ही पमेष्ठी का पद है और वही उसे सिद्ध है, सिद्ध प्रभु व अरहंत प्रभु का केवलज्ञान है । इस आत्म-तत्त्व का अनुभव आत्मज्ञान के बढ़ाने में अत्यन्त ही सहकारी होता है और यही आत्मज्ञान ही वास्तव में वह नौका या जहाज है जिस पर बैठकर यह मानव संसार सागर से पार हो जाता है ।



चिदानन्द चिंतवनं, चेयन आनन्द सहाव आनन्दं ।
कम्ममल पयडि षिपनं, ममल सहावेन अन्मोय संजुत्तं ॥१३॥

सत्-चित्-आनन्द चेतन में तुम, रमण करो प्रिय भाई !
इससे तुमको होगा अनुभव, एक अकथ सुखदाई ॥
मुरझा जाती है पापों की, आत्म मनन से माला ।
कर्म प्रकृतियों की हो जाती, हिम-सी ठण्डी ज्वाला ॥

हे भाइयो ! तुम सत् चित आनन्द के घर इस आत्मा में रमण करो; इससे तुम्हें एक अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति प्राप्त होगी। आत्ममनन से पापों की माला मुरझा जाती है, और कर्म प्रकृतियों की ज्वाला इससे हिम के समान ठंडी-शीतल हो जाती है ।

अप्पा पर पिच्छंतो, पर पर्जाव सल्य मुक्कं च।
न्यान महावं सुद्धं, चरनस्य अन्मोय संजुत्तं ॥१४॥

आत्म द्रव्य का पर स्वभाव है, पर द्रव्यों का पर है।
इस मन में बहता जब ऐसा, ज्ञानमयी निर्झर है॥
पर परिणतियें, शल्यें तब सब, सहसा ढह जातीं हैं।
निज स्वरूप की ही तब फिर फिर, झांकी दिखलाती हैं॥

आत्मद्रव्य का स्वभाव चैतन्य लक्षण कर विभूषित है, जबकि अनात्म-द्रव्यों का स्वभाव केवल जड़-चेतनाहीन है अर्थात् आत्मा से सर्वथा भिन्न है। जिस समय अंतरंग में यह भेदज्ञान का निर्भर बहता है, तो संसार की सारी पर परिणतियें और शल्यें बालू की दीवार के समान अपने आप ढहने लगती हैं और फिर आत्मा के दर्पण में आत्मा को केवल अपनी और केवल अपनी ही विशुद्ध छबि दिखाई देती है। यदि कदाचित किसी कार्य कारण से उसमें पर-परिणति का रंचमात्र भी संचार दृष्टि-गोचर होता है तो उसे वह तत्काल प्रथक् कर देता है।



अवम्भं न चयन्तं, विकहा विनस्य विषय मुक्कं च।
न्यान सुहाव सु समयं, समय सहकार ममल अन्मोयं ॥१५॥

परमब्रह्म में जब चंचल मन, निश्चल हो रम जाता।
तब न वहां पर अन्य; किन्तु, निज आत्मस्वरूप दिखाता॥
चारों विकथा, व्यसन, विषय, उस क्षण लुप-से जाते हैं।
परमब्रह्म में रत मन होता, मल सब धुल जाते हैं॥

जब परम ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप शुद्धात्मा में यह मन निश्चल होकर रम जाता है तब फिर उसकी दृष्टि में केवल एक और एक ही पदार्थ दृष्टिगोचर होता है और वह पदार्थ होता है उसका स्वयं का स्वरूप-आत्मस्वरूप। संसार की सारी व्यर्थ चर्चायें और विषय कषाय उस क्षण जैसे कहीं छिप से जाते हैं और आत्मा के साथ जितने कर्मबंध हैं लगता यह है कि जैसे वे उस समय धीरे धीरे धुल रहे हैं, खिर रहे हैं अर्थात् निर्जरा हो रहे हैं।

जिन वयनं च सहावं, जिनय मिथ्यात कषाय कम्मानं ।
अप्पा सुद्धप्पानं, परमप्पा ममल दर्सए सुद्धं ॥१६॥

जिन-मुख सरसीरुह की है यह, ऐसी प्रिय जिनवाणी ।
मल, मिथ्यात्व, कषायें सबको, पल में हरती ज्ञानी ॥
आत्मतत्व ही शुद्ध तत्व है, जिन प्रभु कहते भाई ।
आत्म-मुकुर में ही बस तुमको, देंगे प्रभु दिखलाई ॥

निश्चयनय का यह जो कुछ भी कथन है यह परम्परा से ही चला आया है, और इसके मूल में जिनवाणी का ही श्रोत झर झर कर रहा है। जिनवाणी का कथन है कि हे भाइयो! संसार में केवल शुद्धात्मा ही एक विशुद्ध तत्त्व है और इसी तत्त्व के दर्पण में तुम्हें परमेश्वर की माधुरी छवि दृष्टिगोचर होगी।



जिन दिष्टि इष्टि संसुद्धं, इस्टं संजोय तिक्त अनिष्टं ।
इस्टं च इस्ट रूवं, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ॥१७॥

जिनवाणी की श्रद्धा हिय में, शुचि पावनता लाती ।
विरह अनिष्टों से, इष्टों से, यह संयोग कराती ॥
त्रिभुवन में सबसे मृदुतम बस, आत्म-मनन की प्याली ।
आत्म-मनन से ही टूटेगी, कर्म-कमठ की जाली ॥

जिनवाणी की श्रद्धा हृदय में पूर्ण विशुद्धता का सृजन करती है, जिससे अनिष्ट पदार्थों से तो हमारा छुटकारा हो जाता है और इष्ट पदार्थ हमें बिना प्रयास किये ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान का यह वचन है कि त्रिभुवन में सबसे इष्ट वस्तु यदि कोई है तो वह है शुद्धात्मा की अर्चना और शुद्धात्मा की अर्चना में ही यह शक्ति विद्यमान है कि वह कर्म के लोह-बंधनों को जर्जर करके तोड़ सके।

अन्यानं नहि दिट्ठं, न्यान सहावेन अन्मोय ममलं च ।
न्यानंतरं न दिट्ठं, पर पर्जाव दिट्ठि अंतरं सहसा ॥१८॥

क्षायिक सम्यग्दृष्टी में, अज्ञान नहीं रहता है ।
ज्ञान-तरंगों पर चढ़, नित वह, शिव-सुख में बहता है ॥
आत्म-ज्ञान में अंतर उसके, नेक नहीं दिखलाता ।
भेद-भाव, पर परिणतियों में, पर सहसा आ जाता ॥

आत्ममनन करने वाले विज्ञानी के अंतरंग में अज्ञान का वास ढूंढे से भी नहीं मिलता है और वह नित्य प्रति ज्ञान की तरंगों पर ही हिलोरें लिया करता है। समय के प्रभाव से यह नहीं होता कि कभी उसके आत्म-ज्ञान में अन्तर पड़ जाये या न्यूनता आ जाये। हां, यह अवश्य हो जाता है कि जो परिणितियें कल उसमें अन्तरंग में विद्यमान थीं, वे आज वहाँ दिखाई भी न दें और उनकी जगह शुद्ध भावनाओं की नई तरंग ले ले। पर परिणतियों से तो उसे भेदभाव और विशेष भेदभाव उत्पन्न हो जाता है, उन्हें तो वह अपने में फटकने भी नहीं देता-स्पर्श भी नहीं करने देता।



अप्पा अप्प सहावं, अप्पसुद्धप्प ममल परमप्पो ।
परम सरूवं रूवं, रूवं विगतं च ममल न्यानं च ॥१९॥

आत्म द्रव्य ही है परमोत्तम, शुद्ध स्वरूप हमारा ।
वह ही है शुद्धात्म यही है, परमब्रह्म प्रभु प्यारा ॥
त्रिभुवन में चेतन-सा उत्तम, रूप न और कहीं है ।
है यह ज्ञानाकार, अन्यतम इसका रूप नहीं है ॥

हमारे शुद्ध स्वरूप की यदि कहीं कोई छवि है तो वह हमारी आत्मा में विद्यमान है। हमारी वह आत्मा इसी लिये हमें शुद्धात्मा है और इसी लिये परमात्मा। तीनों लोक में इस आत्मा सा ज्ञानाकार उत्तम पदार्थ न कहीं है और न कभी होगा ही।

ममलं ममल सरूवं, न्यान विन्यान न्यान सहकारं ।
जिन उत्तं जिन वयनं, जिन सहकारेन मुक्तिगमनं च ॥२०॥

जिनके अमृत-वचन मोक्ष से, मृदु फल के दायक हैं ।
हस्तमलकवत् जो त्रिभुवन के, घट घट के ज्ञायक हैं ॥
ऐसे जिन प्रभु भी यह कहते, चेतन अविकारी है ।
आत्म-ज्ञान ही पंच ज्ञान के, पथ में सहकारी है ॥

जिनके अमृत रूपी वचन मोक्ष का सा मधुर फल देने वाले हैं तथा जो त्रिभुवन के घट घट के ज्ञाता हैं, ऐसे जिनेन्द्र प्रभु भी केवल एक ही बात कहते हैं और वह यही कि हे भव्यो ! तुम्हारे घट में जो आत्मा का वास है तुम उसी के ज्ञान गुणों में तल्लीन होकर केवल उसी का मनन करो, क्योंकि वह आत्मा चेतनता से युक्त एक निर्विकार पदार्थ है, तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति भी आत्मज्ञान से ही होती है ।



षट्काई जीवानां, क्रिया सहकार ममल भावेन,
सत्तु जीव सभावं, कृपा सह ममल कलिष्ट जीवानं ॥२१॥

अनिल, अनल, जल, धरणि, वनस्पति, औ त्रस तन में ज्ञानी !
पाये जाते हैं वसुधा पर, सब संसारी प्राणी ॥
इन जीवों पर दयाभाव ही, समताभाव कहाता ।
चेतन का यह चिर-स्वभाव है, भाव-विशुद्ध बढ़ाता ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और वनस्पति इन सबमें तथा त्रस पर्यायों में अगणित षट्कायिक जीवों का वास है । इन जीवों पर दया भाव करना ही समता भाव कहलाता है और यह समता भाव चेतन का चिर-स्वभाव है जिसके बल पर भावविशुद्धि में नितप्रति वृद्धि होती रहती है । षट्काय के सभी जीवों को अपना शरीर मोह के वशीभूत इष्ट लगता है, उसमें दुःख का भान कराने का नाम हिंसा है और सुख-साता का भान कराना दया करना है ।

एकांत विप्रिय न दिट्ठं, मध्यस्थं ममल शुद्ध सब्भावं ।
सुद्ध सहावं उत्तं, ममल दिट्ठि च कम्म षिपनं च ॥२२

ज्ञानी जन एकान्त विपर्यय, भाव न मन में लाते ।
स्याद्वाद-नय पर चढ़कर वे, मध्य-भाव अपनाते ॥
भावों में शुचिता आना ही, कर्मों का जाना है ।
कर्मों का जाना ही भाई ! शिव-पथ को पाना है ॥

ज्ञानी जन एकान्त, विपर्यय या एकांगी भाव को कभी भी अपने मन में स्थान नहीं देते, प्रत्युत वे मध्यस्थ भाव ही सदैव रखते हैं। मध्यस्थ भाव अपनाने से भावों में विशुद्धता आती है; भाव विशुद्ध होने से कर्मों की बेड़ियां टूटने से उस स्थल की प्राप्ति हो जाती है जिसके लिये मनुष्य कोटि कोटि वर्षों पर्यन्त तप करता है फिर भी कदाचित् उस स्थल-मोक्षस्थान को नहीं पाता।



सत्वं क्लिष्ट जीवा, अन्मोयं सहकार दुग्गए गमनं ।
जे विरोह सभावं, संसारे सरनि दुःषवीयम्मि ॥२३॥

जो नर संसारी जीवों को, पीड़ा पहुँचाते हैं ।
या पर से दुख पहुँचा उनको, जो अति सुख पाते हैं ॥
ऐसे दुष्टों का होता बस, नर्क-स्थल में डेरा ।
असम-भाव जिसके, उसको बस, मिलता नर्क बसेरा ॥

जो मनुष्य संसारी-षट्काय के जीवों को पीड़ा पहुँचाते हैं ऐसे उन दुष्टों का बसेरा केवल नर्क में ही होता है, क्योंकि सिद्धांत इस बात को उच्च स्वरों से कहता है कि जिसके भावों में विषमता (हिंसक क्रूरता) रहती है उसको केवल नर्क में ही डेरा मिलेगा। अथवा वे भव भव के लिए दुखों का ही बीज बोते रहेंगे। तात्पर्य यह कि विषम भावों से विषम योनियों को प्राप्त होगा यह संसारमान्य सिद्धान्त है, केवल एक जैनधर्म का ही नहीं।

न्यान सहाव सु समयं, अन्मोयं ममल न्यान सहकारं ।
न्यानं न्यान सरूवं, ममलं अन्मोय सिद्धि सम्पत्तं ॥२४॥

आत्म-सरोवर में रमना ही, ज्ञान-स्वरूप है भाई !
आत्मज्ञान से ही मिलता है, केवलज्ञान सुहाई ॥
आत्मज्ञान ही से पाता नर, पद अरहन्त सुखारी ।
आत्मज्ञान के बल पर ही नर, बनते शिव-अधिकारी ॥

आत्म-सरोवर में रमण करना और ज्ञान-स्वरूप में आचरण करना ये दोनों शब्द एक ही पर्याय के वाची हैं जिनसे आत्मज्ञान और कालान्तर में केवलज्ञान की उपलब्धि होती है।

आत्मज्ञान से ही मनुष्य बढ़ते बढ़ते अरहन्त पद को प्राप्त कर लेता है और अरहन्त पद से ही वह मुक्ति के साम्राज्य में जाकर अपना निवास बना लेता है ।



इष्टं च परम इष्टं, इष्टं अन्मोय विगत अनिष्टं ।
पर पर्जायं विलयं, न्यान सहावेन कम्मजिनियं च ॥२५॥

त्रिभुवन में सर्वोत्कृष्ट बस, इस चेतन का पद है ।
निज स्वरूप में रमना ही बस, अहित-विगत सुख-प्रद है ॥
आत्म मनन से कर्मों की सब, बेड़ी कट जाती हैं ।
इसके सन्मुख पर पर्यायें, पास नहीं आती हैं ॥

त्रिभुवन में यदि कोई सबसे श्रेष्ठ पद है तो वह केवल एक शुद्धात्मा का ही है, और यदि कोई सर्वोच्च सुख प्रदान करने वाली स्थिति है तो वह है आत्मरमण। आत्मरमण से कर्मों की सारी बेड़ियां कटकर खंड खंड हो जाती हैं और जब तक आत्मरमण की यह स्थिति विद्यमान रहती है तब तक संसार की पर पर्यायें इसके सम्मुख पदार्पण नहीं करतीं—वे दूर रहती हैं।

जिन वयन सुद्ध सुद्धं, अन्मोयं ममल सुद्ध सहकारं।
ममलं ममल सरूवं, जं रयनं रयन सरूव संमिलियं ॥२६॥

श्री जिनवाणी निश्चयनय का, प्रिय सन्देश सुनाती ।
त्रिभुवनतल में उससी पावन, वस्तु न और लखाती ॥
ज्ञान-सिन्धु आतम का भव्यो ! रूप परम पावन है ।
आत्म-मनन से ही मिलता बस, रत्नत्रय सा धन है ॥

करुणामयी जिनवाणी निश्चय का पवित्र सन्देश सुनाते हुए हमको जगा जगाकर कहती है कि हे भव्यो ! ज्ञान-सिन्धु आत्मा का रूप सबसे विशुद्धतम रूप है, तुम इसी का मनन करो, क्योंकि मोक्ष के द्वार रत्नत्रय की प्राप्ति केवल आत्म-मनन से ही होती है।



सेष्टं च गुन उववन्नं, सेष्टं सहकार कम्म संषिपनं।
सेष्टं च इष्ट कमलं, कमलंसिरि कमल भाव उववन्नं ॥२७॥

जगता है शुद्धोपयोग गुण, आत्म-मनन से भाई ।
जिसके बल से गल जाते सब, कर्म महा दुखदाई ॥
कर्म काट, अरहन्त महापद, आत्म-कमल पाता है ।
और यही निज-रूप रमण फिर, शिवपुर दिखलाता है ॥

भव्यो ! आत्ममनन से अन्तर में शुद्धोपयोग की जाग्रति होती है—शुद्धोपयोग का संचार होता है जिसके द्वारा आत्मा के प्रदेशों से चिपटे हुए सारे कर्म पृथक होने लग जाते हैं कि यही आत्मा अरहंत पद प्राप्त कर लेती है। अरहन्त पद सन्निकट-प्राप्त होने पर मुक्ति का मार्ग तो क्या वह स्वयं मुक्त स्वरूप हो जाता है और समय आने पर द्रव्यमुक्त हो जाता है—मोक्षधाम में जा विराजता है।

जिन वयनं सहकारं, मिथ्या कुन्यान सल्य तिक्तं च ।
विगतं विषय कषायं, न्यानं अन्मोय कम्म गलियं च ॥२८॥

भव-सागर अति दुर्गम, दुस्तर, थाह न इसकी प्राणी !
इसको तारन में समर्थ बस, एक महा जिनवाणी ॥
जिनवाणी कुज्ञान, कषायें, शल्य, विषय क्षय करती ।
निश्चयनय का गीत सुना यह, सब कर्मों को हरती ॥

यह संसार सागर महा गहन और दुस्तर है, इससे पार करने में केवल एक जिनवाणी ही समर्थ है। जिनवाणी—कुज्ञान, कषायें, शल्य और विषय इन सबका क्षय कर देती है और निश्चय नय का गीत सुनाकर समस्त कर्मों को क्षय कर देती है। ऐसी जिनवाणी की शरण लेना व उसकी आज्ञानुसार चलना ही कल्याणकारी है। तात्पर्य यह कि कर्मों का क्षय करने वाली जिनवाणी ही है।



कमलं कमल सहावं, षट्कमलं तिअर्थ ममल आनन्दं ।
दर्सन न्यान सरूवं, चरनं अन्मोय कम्म संषिपनं ॥२९॥

आत्म-कमल अरहन्त रूप में, जिस क्षण मुसकाता है ।
उस क्षण ही, षट गुण त्रिरत्न-दल उसको विकसाता है ॥
दर्शन-ज्ञान-सरोवर में तब, आत्म रमण करता है ।
और अघातिय कर्म नाश, वह शिव में पग धरता है ॥

ज्ञान सूर्य के उदय होने पर जिस समय आत्म-कमल प्रफुल्लित होता है उस समय शरीर रचना में जो छह कमल वे सब प्रफुल्लित हो जाते हैं और तीन रत्न सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का विकास हो जाता है। इस स्थिति में ज्ञानी आत्मरमण में तल्लीन हो जाता है और अघातिया कर्मों का विध्वंस करके वह मुक्ति नगर की ओर अग्रसर हो जाता है। केवलज्ञानी हो जाता है।

संसार सरनि नहु दिट्ठं, नहु दिट्ठं समल पर्जाय सुभावं ।
न्यानं कमल सहावं, न्यान विन्यान ममल अन्मोयं ॥३०॥

सिद्ध न संसारी जीवों से, भव भव गोते खावें ।
अशुचि मलिन परिणतियें उनके, पास न जाने पावें ॥
उनके उर में कमल-सदृश बस, केवलज्ञान विहंसता ।
शुद्ध ज्ञान, सत्-चित् सुख ही बस, उनके हिय में बसता ॥

जो जीव सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं वे संसार में गोता खाने के लिये फिर यहां कभी नहीं आते, और न फिर उनके पास अशुचि या मलिन परिणतियें ही जाने पाती हैं। उनके अन्तरंग में तो कमल के समान बस केवलज्ञान ही मुस्कुराया करता है और वे तो केवल सत् चित और आनन्द की सम्पदा को प्राप्त कर अपने आप में ही संतुष्ट रहा करते हैं।



जिन उत्तं सद्दहनं, अप्पा परमप्प सुद्ध ममलं च ।
परमप्पा उवलद्धं, परम सुभावेन कम्म विलयन्ती ॥३१॥

'विज्ञो ! अपना आत्म देव ही, है जग का परमेश्वर ।
बरसाते इस वाक्य सुधा को, तारण तरण जिनेश्वर ॥
जो जन, जिन-वच पर श्रद्धा कर, बनता आत्म पुजारी ।
कर्म काट, भवसागर तर वह, बनता मोक्ष-विहारी ॥

हे विज्ञो ! अपना आत्मदेव ही संसार का एकमात्र परमेश्वर है, ऐसा संसार पार करने वाली जिनवाणी का कथन है। जो मनुष्य जिनवाणी के इस कथन पर श्रद्धापूर्वक आत्मा के पुजारी बनते हैं वे निश्चय से ही कर्म काटकर मुक्ति नगर को प्राप्त कर लेते हैं।

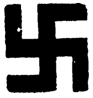
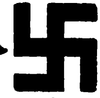
जिन दिष्ट उत्त सुद्धं, जिनयति कम्मान तिविह जोएन।
न्यानं अन्मोय ममलं, ममल मरूवं च मुक्ति गमनं च ॥३२॥

जैसा जिन ने देखा, जैसा वचन-अमिय बरसाया ।
वैसे ही शुद्धात्म तत्त्व का, मैंने रूप दिखाया ॥
त्रिविध योग से सतत करेंगे, जो आतम आराधन ।
कर्म जीत, वे ज्ञानानन्द हो: पावेंगे शिव पावन ॥

मैंने जो यह कथन किया है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, श्री जिनवाणी के चरण कमलों का अनुसरण करके ही मैंने सब कुछ कहा है।

मेरा विश्वास है कि मन, वचन और काय के नियोग से जो आत्मा का आराधन करेंगे वे अवश्य ही कर्मों के बंध काटकर एक दिन मुक्ति श्री के दर्शन कर अपने जीवन और ज्ञान चक्षुओं को सफल करेंगे। इतना ही नहीं, समय पाकर उसके स्वामी बनकर शाश्वत सुख के भोगी बनेंगे।



— प्रातः कालीन —

❋ जिनवाणी-प्रार्थना ❋

जय करुणामय जिनवाणी ! जय जय मां ! मंगलपाणी !!
स्याद्वाद नय के प्राङ्गण में बहे तुम्हारी धारा,
परम अहिंसा मार्ग तुम्हारा निर्मल, प्यारा, प्यारा !
माँ ! तुम इस युग की वाणी ! सब गुणखानी !!
अशरण शरणा, प्रणतपालिका माता नाम तुम्हारा ।
कोटि-कोटि पतितों के दल को तुमने पार उतारा ॥
क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी ? तिर्यग् प्राणी !!
मोह-मान-मिथ्यात्व मेरु को तुमने भस्म बनाया ।
जिसने तुम्हें नयन भर देखा, जीवन का फल पाया ॥
तुम मुक्ति-नगर की रानी ! शिवा भवानी !!
कुन्दकुन्द, योगीन्दु देव से तुमने सुत उपजाये ।
तारणस्वामी, उमास्वामि से तुमने सूर्य जगाये ॥
माँ ! कौन तुम्हारी शानी ? तुम लाशानी !!
"यह भव-पारावार कठिन है इसका दूर किनारा !
इसके तरने को समर्थ है, आत्म-जहाज हमारा ।"
यह माँ की सुन्दर वाणी ! शिवसुख दानी !!
माता ! ये पद-पद्म तुम्हारे हमसे कभी न छूटें ।
छूटें ही तो तब, जब 'चंचल' जन्म-मरण से छूटें ॥
माँ ! तुम चन्दन हम पानी ! हृदय समानों !!

—'चंचल'

